कान्ट की नीति दर्शन

भूमिका

यह एक दुःखद स्थिति है कि जर्मन दार्शनिक इमानुएल कांट के नीतिशास्त्र पर अभी तक हिन्दी भाषा में कोई भी पुस्तक नहीं लिखी गई है। नीतिशास्त्र पर लिखी गई हिन्दी पुस्तकों में कांट के नैतिक विचारों का उल्लेख अवश्य है; किन्तु उनमें भी अन्य नीतिशास्त्रीय मतों की अपेक्षा कांट के नैतिकता सम्बन्धी मत को कम स्थान दिया गया है। हिन्दी पुस्तकों में कांट के नीतिशास्त्र पर विस्तृत चर्चा का अभाव विगत छः सात वर्षों से मन को खटक रहा था। नीतिशास्त्र संबंधी कांट की मूल पुस्तकें जर्मन भाषा में हैं। उन्हें आंग्ल भाषा में प्रस्तुत करने का श्रेय प्रोफेसर एच० जे० पेटन तथा श्री टी० के० एबॉट प्रभृति विद्वानों को है। मूल जर्मन पुस्तकों के आधार पर इन्हें हिन्दी में प्रस्तुत करने की बात तो दूर, आंग्ल भाषा में प्रस्तुत अनुवादों की सहायता से कांट के नीतिशास्त्र को हिन्दी भाषा में प्रस्तुत करने का प्रयास भी नहीं किया गया। प्रस्तुत पुस्तक इस अभाव की पूर्ति करने का प्रयास मात्र है।

कांट ने अपने नीतिशास्त्रीय विचारों को सर्वप्रथम सन् १७८५ में अपनी "नैतिक आदर्शों की तत्वमीमांसा का मूलाधार" नामक लघु पुस्तक में अभिव्यक्त किया। इसके पश्चात् सन् १७८८ में उन्होंने अपने नीतिशास्त्रीय सिद्धांत का विकास अपने महाग्रंथ "व्यावहारिक बुद्धि की मीमांसा" में किया। सन् १७९३ में उनकी पुस्तक "बुद्धि की सीमाओं के अन्तर्गत धर्म" (रिलिजन विदिन द लिमिट्स आफ रिज़न एलोन) प्रकाशित हुई। इसमें भी उनके नैतिकता संबंधी चिंतन को देखा जा सकता है। उनके नीतिशास्त्र का विकसित रूप सन् १७९७ में प्रकाशित उनकी पुस्तक "नैतिक आदर्शों की तत्वमीमांसा" में मिलता है। इस तरह नीतिशास्त्र पर कांट की प्रथम पुस्तक "नैतिक आदर्शों की तत्वमीमांसा का मूलाधार" (ग्राउण्ड वर्क ऑफ द मेटाफिजिक्स ऑफ मॉरेल्स) है। प्रोफेसर पेटन ने आंग्लभाषा में इसका जो अनुवाद किया है, उसका शीर्षक है "द मॉरेल लॉ"। टी० के० एबॉट ने अपने अनुवाद का शीर्षक "फन्डामेंटल प्रिंसि-

पल्स ऑफ द मेटाफिजिक्स ऑफ मॉरेल्स' रखा है। कुछ वर्ष पूर्व मेरा विचार कांटकृत इस पुस्तक के प्रोफेसर पैटन द्वारा आंग्लभाषा में किये गए अनुवाद का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करवाने का था। इस दिशा में मेरा कार्य लगभग समाप्त हो चुका था, किन्तु प्रकाशन के पूर्व मैंने यह पाया कि अनुवाद के रूप में काँट के नीतिशास्त्र को प्रस्तुत करना, उसे जटिल व दुर्बोध्य बनाना ही होगा। दूसरे, अनुवाद-कार्य की अपनी एक सीमा होती है जो प्रायः चिंतन-प्रवाह की सहज अभिव्यक्ति में बाधक होती है। इन्हीं कारणों से मैंने अनुवाद को प्रकाशित करवाने का विचार त्याग दिया और नये सिरे से पुनः कार्य प्रारम्भ किया।

कांट के नीतिशास्त्र पर स्वतंत्र पुस्तक लिखने के पीछे एक कारण रहा है। वह मूल कारण है, हिन्दी भाषा के माध्यम से स्नातकोत्तरीय कक्षाओं में अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों की कठिनाई। कुछ विश्वविद्यालयों ने नीतिशास्त्र के स्नातकोत्तरीय पाठ्यक्रम के अन्तर्गत कांट के नीतिदर्शन को रखा है। हिन्दी भाषा के माध्यम से अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों की निरंतर बढ़ती संख्या तथा हिन्दी भाषा में कांट के नीतिशास्त्र पर पर्याप्त सामग्री के अभाव से उत्पन्न उनकी समस्या ने मुझे प्रस्तुत पुस्तक लिखने के लिए प्रेरित किया है।

इस पुस्तक का शीर्षक मैंने "कांट का नीति-दर्शन" इसलिए रखा है; क्योंकि यह अंततः कांटकृत "नैतिक आदर्शों की तत्वमीमांसा का मूलाधार" नामक पुस्तक में अभिव्यक्त कांट के नैतिकता संबंधी विचारों को ही हिन्दी भाषा में प्रस्तुत करती है।

सामान्यतः "तत्वमीमांसा (मेटाफिजिक्स)" को दर्शनशास्त्र का सर्वाधिक कठिन व गूढ़ भाग माना जाता है। अतः पाठक "नैतिक आदर्शों की तत्वमीमांसा का मूलाधार" नाम सुनकर ही घबरा जाता है। पाश्चात्य दार्शनिक व सामान्य भारतीय पाठक के मध्य एक परेशानी यह है कि अधिकांश भारतीय पाठक पाश्चात्य दार्शनिक चिंतन को "बौद्धिक जिमनास्टिक" की श्रेणी में रखते हैं। पाश्चात्य दार्शनिक-प्रणालियों को प्रायः "आरामकुर्सीय दर्शन" व "बुद्धि-विलास" कहकर सम्बोधित किया जाता है। पाश्चात्य दार्शनिक द्वारा प्रस्तुत दर्शन प्रायः भारतीय मानस को प्रभावित नहीं कर पाता है। सामान्य पाठक की दृष्टि में, पाश्चात्य दर्शन ऐसा विशुद्ध सैद्धांतिक चिंतन है जिसकी जीवन में कोई व्यावहारिक उपयोगिता नहीं है। अब यदि "तत्वमीमांसा" संबंधी पाश्चात्य

चिंतन हो, तो सामान्य भारतीय पाठक उसमें प्रवेश किये बिना ही उसे पूर्णतः निरर्थक व अनुपयोगी मान बैठता है। वह सोचता है कि जब तत्वमीमांसा ही जीवनोपयोगी नहीं है, तो पाश्चात्य दार्शनिक की तत्वमीमांसा तो और भी निरर्थक होगी। दुरूहता के कारण भी वह इसमें प्रवेश करने से संकुचाता है। तत्वमीमांसा संबंधी इस गलत धारणा के उन्मूलन का एक सर्वोत्तम उपाय यह है कि हम उनसे कांट कृत "नैतिक आदर्शों की तत्वमीमांसा का मूलाधार" के अध्ययन का आग्रह करें। इससे यह स्पष्ट हो जायेगा कि तत्व-मीमांसा केवल आत्मा, परमात्मा व जगत् से सम्बन्धित नहीं है, जैसा कि प्रायः सामान्यतः समझा जाता है। किसी भी क्षेत्र में तत्वमीमांसा संभव है। किसी 'तत्व' की मीमांसा करना अर्थात् उस पर चिंतन करना तथा उसके स्वरूप को समझना ही तत्वमीमांसा है। मीमांसा का विषय—यह तत्व, आत्मा भी हो सकता है तथा नैतिक आदर्श भी। इस तरह एक व्यापक अर्थ में "तत्वमीमांसा" को समझा जाना चाहिए। कांट ने नैतिक आदर्शों की तत्व-मीमांसा शब्द का प्रयोग इस अर्थ में ही किया है।

कांट की पुस्तक "नैतिक आदर्शों की तत्वमीमांसा का मूलाधार", एक लघुकाय पुस्तक है; किन्तु इसके संबंध में गागर में सागर वाली उक्ति अक्ष-रशः चरितार्थ होती है। कुछ विद्वानों ने इसे नीतिदर्शन के क्षेत्र में वही स्थान दिया है, जो प्लेटो के संवाद 'रिपब्लिक' व अरस्तू की पुस्तक 'एथिक्स' को प्राप्त है। इससे भी आगे बढ़कर कुछ विद्वान् यह कहते हैं कि यह पुस्तक प्लेटो व अरस्तू की पुस्तकों की अपेक्षा कहीं अधिक गहरी अन्तर्दृष्टि की परिचायक है।

कांट की इस पुस्तक का मुख्य विषय है—नैतिकता के सर्वोच्च सिद्धान्त का अन्वेषण। अतः यह पुस्तक उन जिज्ञासुओं के लिए अधिक महत्व रखती है जो अनैतिकता के विरुद्ध किये जाने वाले मानवीय संघर्ष में रुचि रखते हैं तथा योद्धा के रूप में इसमें सक्रिय भाग लेने को उत्सुक हैं। कांट यह स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि पूर्णतः इन्द्रियानुभवाश्रित नीतिदर्शन नैतिकता के विषय में कुछ भी ज्ञान नहीं दे सकता। यदि हम नैतिकता को पूर्णतः इन्द्रि-यानुभव पर आश्रित दर्शाने की चेष्टा करते भी हैं, तो इसमें क्षति ही होती है। इन्द्रियाश्रित नैतिकता संवेगों, अनुभूतियों, क्षुद्र स्वार्थों इत्यादि को, या अधिक से अधिक प्रच्छन्न आत्मप्रेम को, हमारा पथ-प्रदर्शक बनाती है। १८वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में लिखी गई कांट की उपर्युक्त लघु पुस्तक के अध्ययन की आवश्यकता, आज की विश्व-स्थिति को देखते हुए, उस शताब्दी

की अपेक्षा आज कहीं अधिक है। आज हम भौतिकता व ऐन्द्रिक सुखोपभोग में कुछ इस तरह डूबे हैं कि बौद्धिक प्राणी होने की अपनी गरिमा का भी तिरस्कार कर रहे हैं।

मानव की शोचनीय वर्तमान स्थिति का एक कारण, जहाँ एक ओर नैतिकता का पूर्ण तिरस्कार है, तो दूसरी ओर नैतिकता संबंधी गलत मान्यताएं भी इसके लिए कुछ कम उत्तरदायी नहीं हैं। आज हमारे कर्म कभी आत्मप्रेम या स्वार्थ से प्रेरित होते हैं, तो कभी अनियंत्रित चित्तवृत्तियों से। अपनी तृष्णाओं व स्वार्थों के हाथों खिलौना बने मानव को कभी-कभी विशुद्ध नैतिक नियमों की झलक भी प्राप्त होती है; किन्तु वह उनकी अवहेलना कर जाता है। आज मानव ने वणिकवृत्ति अपना ली है। वह लाभ-हानि के शब्दों में नैतिक-अनैतिक को परिभाषित करने लगा है। आज 'विवेक' की जगह दूरदर्शिता व दुनियादारी (वर्ल्डली विज़डम) ने ले ली है। मानव का निरन्तर नैतिक पतन हो रहा है, क्योंकि मानव यह भूल चुका है कि उसकी गरिमा नैतिक आदर्शों के प्रति समर्पित होने में है। कांट की यह छोटी-सी पुस्तक स्मरण दिलाती है कि बौद्धिक प्राणी के रूप में मानव की गरिमा मूल प्रवृत्तियों का दास बनने में नहीं, वरन् विशुद्ध नैतिक नियमों के निर्माता व पालनकर्ता होने में है। हमें मूलप्रवृत्तियों का दास होने की अपेक्षा, उनका शासक होना चाहिए।

देश, काल, व्यक्ति और परिस्थिति की भिन्नता के आधार पर नैतिक नियमों की विभिन्नता की चर्चा करना नितांत मूर्खतापूर्ण है। समस्त मानव—चाहे वे इंग्लैंडवासी हों या भारतवासी, उनकी सत्ता आज हो अथवा ५० वर्ष बाद, वे उष्ण प्रदेशों में रहते हों या शीत प्रदेशों में—बौद्धिक प्राणी हैं। बुद्धितत्व समस्त मनुष्यों में पाया जाने वाला सामान्य तत्व है अतः इसी पर नैतिकता आधारित होना चाहिए। केवल बुद्धि ही हमें नैतिकता का वस्तुगत या सार्वभौमिक सिद्धांत प्रदान कर सकती है। विषयीगत तत्वों—जैसे इच्छा, स्वार्थ इत्यादि—पर नैतिकता को आधारित करना उतना ही अनुचित है, जितना कि उसे बाह्य तत्वों—परिस्थिति, देश, काल, परिणाम इत्यादि पर आधारित करना।

कांट के मतानुसार निरपेक्ष रूप से शुभ केवल एक वस्तु इस संसार में है, और वह है 'शुभ संकल्प'। मानव की गरिमा इसी शुभ संकल्प के कारण है। उसमें पाया जाने वाला "कर्तव्य-बोध" या "कर्तव्य-भावना" इसी शुभ संकल्प का प्रमाण व अभिव्यक्ति है। यह शुभ संकल्प ही नैतिक आदर्शों

का आधार है। नैतिक कर्मों के माध्यम से नैतिक आदर्शों को धरा पर साकार करने का प्रयास प्रत्येक मानव को करना चाहिए।

नीतिशास्त्र के क्षेत्र में कांट ने 'कर्तव्य के लिए कर्तव्य' के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। यह कई दृष्टियों से गीता के 'निष्काम कर्मयोग' से सादृश्य रखता है। इस तरह तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए भी प्रस्तुत पुस्तक कुछ-न-कुछ सहायक सिद्ध होगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

प्रस्तावना

प्राचीन ग्रीक दर्शन तीन शास्त्रों अथवा विज्ञानों में विभाजित था। वे तीन शास्त्र थे—भौतिकशास्त्र, नीतिशास्त्र तथा तर्कशास्त्र। कांट की दृष्टि में यह विभाजन दर्शन के स्वरूप के अत्यन्त अनुरूप एवं उपयुक्त है। इस विभाजन पर और अधिक चर्चा करने की आवश्यकता कांट अनुभव नहीं करते, किन्तु वे इतना मानते हैं कि हमें उस सिद्धान्त का उल्लेख व समावेश अवश्य करना चाहिए, जिस पर उपर्युक्त विभाजन आधारित है। आधारभूत सिद्धान्त के अन्वेषण व समावेश से दो लाभ होंगे। एक तो, हम इस विषय की पूर्णता का दावा करने में समर्थ हो सकेंगे तथा, दूसरी ओर इसके अनिवार्य उपविभाग समुचित रीति से निर्धारित करने में सक्षम हो सकेंगे।

समस्त बौद्धिक ज्ञान या तो भौतिक होता है और किसी वस्तु-विशेष से संबन्धित रहता है, अथवा आकारिक होता है। आकारिक ज्ञान पूर्णतः बुद्धि और तर्कना के आधार से सम्बन्धित रहता है अर्थात् यह सार्वभौमिक चिंतना (Tninking as such) के 'सार्वभौमिक नियमों' से सम्बन्धित रहता है तथा इसका वस्तुओं के पारस्परिक वैभिन्न्य से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। आकारिक दर्शन को हम 'तर्कशास्त्र' कहते हैं। भौतिक अथवा प्राकृतिक दर्शन को दो भागों में बांटा जाता है। स्मरणीय है कि भौतिक दर्शन नियत वस्तुओं तथा उनके सिद्धान्तों से सम्बन्धित है। जिन सिद्धान्तों का इसमें अध्ययन किया जाता है, वे या तो प्रकृति के सिद्धान्त होते हैं या स्वातंत्र्य के। प्रकृति के विज्ञान को भौतिकशास्त्र तथा संकल्प-स्वातंत्र्य के शास्त्र को नीतिशास्त्र कहते हैं, इन्हें क्रमशः प्राकृतिक-दर्शन तथा नीतिदर्शन भी कहा जाता है।

व्यावहारिक तर्कशास्त्र को छोड़ दिया जाये तो तर्कशास्त्र में कोई भी अनुभवात्मक तत्व या अनुभवात्मक भाग नहीं होता। कहने का तात्पर्य यह कि कोई भी ऐसा भाग नहीं हो सकता जिसमें चिंतन-शक्ति (Thinking) के सार्वभौमिक व अनिवार्य नियम अनुभव से लिए गए आधारों पर आश्रित हों। यदि ऐसा न होता, तो तर्कशस्त्र, तर्कशास्त्र ही नहीं रहता। दूसरे शब्दों में, तब वह बुद्धि व तर्कना के लिए 'एक अधिनियम' (Canon)

(कांट ने ज्ञान के 'अनुभवपूर्व सिद्धान्तों के योग' को 'केनन' कहा है) नहीं होता। न ही तब तर्कशास्त्र निरूपण में समर्थ एवं समस्त चिंतन के लिए प्रामाणिक हो सकता था। इसके विपरीत, प्राकृतिक दर्शन व नीतिदर्शन प्रत्येक में एक-एक अनुभवात्मक भाग हो सकता है। प्राकृतिक दर्शन में अनुभवात्मक भाग इसलिए सम्भव है; क्योंकि इसे प्रकृति को अनुभव का विषय स्वीकार करते हुए, प्रकृति के लिए नियमों का निर्माण करना होता है। तथा नीतिदर्शन में अनुभवात्मक भाग इसलिए संभव है; क्योंकि यह प्रकृति (nature) द्वारा प्रभावित मानव के संकल्प के लिए नियमों का निर्माण करता है। प्रथम प्रकार के अर्थात् प्रकृति के नियम, वे नियम हैं जिनके अनुसार प्रत्येक चीज़ घटित होती है तथा द्वितीय प्रकार के नियम वे नियम हैं, जिनके अनुसार प्रत्येक चीज़ को घटित होना चाहिए। यद्यपि इन द्वितीय प्रकार के नियमों के अन्तर्गत उन उपाधियों (conditions) पर भी विचार किया जाता है जिन उपाधियों के उपस्थित रहने पर, वस्तुतः जो घटित होना चाहिए वह प्रायः घटित नहीं हो पाता है। फिर भी ये नियम मूलतः 'चाहिए' से सम्बन्धित रहते हैं। स्वरूप की दृष्टि से हम प्रकृति के नियमों को 'तथ्यात्मक' तथा संकल्प के नियमों को अर्थात् नैतिक नियमों को 'मूल्यात्मक' कहते हैं।

समस्त दर्शन, जहाँ तक वह अनुभव पर आधारित है, अनुभवात्मक दर्शन कहा जा सकता है और, जब दर्शन अपने सिद्धान्तों को पूर्णतः प्राग्आनुभविक (apriori) सिद्धांतों पर आश्रित दर्शाता है; तब उसे विशुद्ध दर्शन कहा जा सकता है। यह विशुद्ध दर्शन जब पूर्णतः आकारिक होता है तब इसे तर्कशास्त्र कहते हैं; किन्तु जब यह बुद्धि के नियत विवेच्य विषयों तक अपने को सीमित रखता है, तब इसे 'तत्वमीमांसा' (Metaphysics) कहते हैं।

इस तरह दो प्रकार की तत्वमीमांसा का विचार उपस्थित होता है। पहली, प्रकृति की तत्वमीमांसा तथा दूसरी नैतिक आदर्शों की तत्वमीमांसा। इस प्रकार भौतिकशास्त्र में न केवल उसका अनुभवात्मक भाग ही समाविष्ट रहेगा, अपितु बौद्धिक भाग भी रहेगा। इसी तरह नीतिशास्त्र में भी दो भाग होंगे, किन्तु नीतिशास्त्र के अनुभवात्मक भाग तथा बौद्धिक भाग को दो पृथक्-पृथक् नाम दिये जा सकते हैं। इसके अनुभवात्मक भाग को विशेष रूप से 'व्यावहारिक मानवशास्त्र' तथा बौद्धिक भाग को 'नैतिक आदर्श (morals) कहा जा सकता है।

विशुद्ध नीतिशास्त्र की आवश्यकता

कांट के पूर्व प्लेटो ही एक ऐसे दार्शनिक थे जिन्होंने नीतिशास्त्र के

विशुद्ध स्वरूप पर बल दिया था तथा कांट के बाद मूर ने विशुद्ध नीतिशास्त्र की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया; पर इसमें दो मत नहीं हो सकते कि नीति के क्षेत्र में कांट ने प्लेटो तथा मूर से कहीं अधिक लोगों को प्रभावित किया है।

विशुद्ध नीतिशास्त्र की आवश्यकता का प्रतिपादन कांट बड़े ही मौलिक तर्क द्वारा करते हैं। वे कहते हैं कि समस्त उद्योग, कला एवं शिल्प श्रम-विभाजन द्वारा उन्नत एवं लाभान्वित हुए हैं। श्रम-विभाजन के सिद्धान्तानुसार एक ही व्यक्ति सभी कार्य नहीं कर सकता, वरन् प्रत्येक व्यक्ति अपने को उस एक विशिष्ट कार्य तक ही सीमित रखता है, जो कार्य-विशेष अपनी क्रियापद्धति अथवा शिल्प में अन्य कार्यों से नितान्त भिन्न रहता है तथा, जिसके लिए वह व्यक्ति सर्वाधिक सक्षम रहता है। इस तरह उस कार्य-विशेष को वह अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक सरलता तथा पूर्णता से कर सकता है। जहाँ कर्मों को इस तरह विभाजित व पृथक् नहीं किया जाता, वहाँ प्रत्येक व्यक्ति हर काम में दखल देता है। अतः उद्योग अविकसित व अनुन्नत अवस्था में ही पड़े रहते हैं। यह प्रश्न हमारे मन में सहज ही उठ खड़ा हो सकता है, कि जब हर जगह श्रम-विभाजन इतना फलदायी है, तो क्या विशुद्ध दर्शनशास्त्र को भी अपने विभिन्न-विभागों के लिए भिन्न-भिन्न योग्यता वाले विशिष्ट चिंतकों की अपेक्षा नहीं रखना चाहिए? कांट की दृष्टि में यह प्रश्न ही अपने आप में विचारणीय है। हमें इसकी परीक्षा करना चाहिए। कांट के मतानुसार दर्शनशास्त्र का एक महत्वपूर्ण काम उन दार्शनिकों को चेतावनी देना होना चाहिए, जो दार्शनिक जनता की रुचि को महत्व देते हुए अपने चिंतन व दर्शन में अनुभवात्मक व बुद्धयात्मक तत्वों का विभिन्न अनुपातों में मिश्रण करते हैं। आश्चर्य इस बात पर होता है कि जनता की रुचि को महत्व देने वाले इन दार्शनिकों को स्वयं ही इस मिश्रण का ज्ञान नहीं होता। कांट इन्हें व्यंग्य से अपने ही प्रकार के 'सृजनात्मक चिंतक' कहकर सम्बोधित करते हैं। इन तथाकथित सृजनात्मक चिंतकों से नितान्त भिन्न होते हैं बाल की खाल खींचने वाले विशुद्ध बौद्धिक चिंतक। कांट कहते हैं कि अनुभवात्मक तथा बुद्धियात्मक तत्वों का मिश्रण करने वाले चिंतकों को, उनके इस कार्य के विरोध में दर्शनशास्त्र का यह चेतावनी देना अनुचित नहीं है कि वे एक ही समय में दो ऐसे कार्यों को कर रहे हैं जो कौशल्य (Technique) की दृष्टि से परस्पर अत्यधिक भिन्न हैं, तथा इनमें से प्रत्येक के लिए पृथक्-पृथक् प्रतिभा (Talent) की आवश्यकता होती है, और यदि दोनों एक ही व्यक्ति में पाये जायें, अथवा एक ही व्यक्ति में दोनों का संयोग, नौसिखिया व अपरिपक्व

चिंतक का निर्माण करता है। कांट के विचारानुसार विज्ञान का स्वरूप सदैव यह आकांक्षा रखता है कि अनुभवात्मक पक्ष को, बुद्धयात्मक पक्ष से सतर्कता-पूर्वक पूर्णतया पृथक् रखा जाना चाहिए। कांट कहते हैं कि (अनुभवात्मक) भौतिकशास्त्र के प्रारम्भ में "प्रकृति की तत्वमीमांसा" को भूमिका के रूप में प्रस्तुत किया जाना चाहिये, जबकि 'व्यावहारिक मानवशास्त्र' को 'नैतिक आदर्शों की तत्वमीमांसा" द्वारा प्रस्तावित किया जाना चाहिए। यदि हम यह जानना चाहते हैं कि विशुद्ध तर्कना दोनों स्थितियों में कितनी पूर्णता अथवा सिद्धि प्राप्त कर सकती है, तथा किन स्रोतों से यह अपने ही द्वारा अपनी प्राग्-अनुभविकशिक्षायें अर्थात् सिद्धान्त प्राप्त करती है, तो इसके लिए हमें तत्वमीमांसा से प्रत्येक अनुभवात्मक तत्व को निकाल देना होगा। कांट इस प्रश्न को एक सार्वजनिक प्रश्न के रूप में अन्य लोगों के लिए छोड़ देते हैं कि नैतिक आदर्शों की तत्वमीमांसा का मार्ग-निर्देशन समस्त तथाकथित नीतिशास्त्रियों द्वारा किया जाना चाहिए अथवा केवल उन लोगों द्वारा, जो वस्तुतः इस विषय के प्रति अनुराग रखते हैं।

चूँकि कांट का मुख्य उद्देश्य नीति-दर्शन ही है अतः वे प्रस्तुत प्रश्न को इस बिन्दु तक ही सीमित रखते हैं कि क्या हमें एक ऐसे विशुद्ध नीतिशास्त्र के विषय में नहीं सोचना चाहिए जो प्रत्येक अनुभवात्मक वस्तु से पूर्णतः पृथक् हो ? कांट गंभीरता से एक ऐसे नीतिशास्त्र की आवश्यकता अनुभव करते हैं, जिसमें मानवशास्त्र की कुछ भी साझेदारी न हो, और जो पूर्णतः विशुद्ध हो। कांट के अनुसार विशुद्ध नीति-दर्शन के क्षेत्र से प्रत्येक अनुभवात्मक तत्व तथा मानवशास्त्र के अनुकूल तत्वों का बहिष्कार करने का कार्य एक अत्यधिक महत्वपूर्ण व अनिवार्य कार्य है। कर्तव्य के सामान्य 'निरुपाधिक प्रत्यय (Idea)[1] तथा नैतिकता के नियमों' से यह स्पष्ट है कि ऐसा विशुद्ध नीतिदर्शन अवश्य ही होना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को यह अवश्य ही स्वीकार करना होगा कि यदि किसी नैतिक नियम को नैतिक दृष्टि से प्रामाणिक सिद्ध करना है, तो उसमें परम (absolute) अनिवार्यता पाई जाना चाहिये। परम अनि-वार्यता दर्शाकर ही हम उसे प्रामाणिक सिद्ध कर सकते हैं अन्यथा नहीं। परम अनिवार्यता बाध्यता का आधार है। परम अनिवार्यता के कारण ही

१. कांट जब Idea शब्द का प्रारम्भ दीर्घ I से करते हैं, तो उनका संकेत किसी निरुपाधिक पूर्ण के प्रत्यय की ओर रहता है। इस तरह कांट-दर्शन में दीर्घ I से प्रारम्भ होने वाला शब्द एक परिभाषिक शब्द है।

प्रत्येक बौद्धिक प्राणी नैतिक नियमों का पालन करने के लिए बाध्य है। नैतिक नियमों की प्रामाणिकता के लिए बाध्यता के आधार के रूप में परम अनिवार्यता का होना अत्यधिक आवश्यक है। नीतिशास्त्र की प्रतिष्ठा के लिए नैतिक बाध्यता के इस आधार की खोज ही महत्वपूर्ण है; किन्तु यह आधार न तो मानव-स्वभाव में खोजा जा सकता है, और न ही सांसारिक परिस्थितियों में, जिनसे मानव घिरा रहता है। अतः प्रश्न उठता है कि आखिर इस आधार को कहाँ पर खोजा जाये ? कांट के मत में यह आधार और कहीं नहीं, विशुद्ध तर्कना के प्रत्ययों में ही खोजा जाना चाहिए तथा यह खोज पूर्णतः प्राग्-आनुभविक होना चाहिये। कांट कहते हैं कि जो 'कर्म-नियम' (precept) केवल इन्द्रियानुभव के सिद्धान्तों पर आधारित होते हैं, उन्हें व्यावहारिक नियम (practical rule) अवश्य कहा जा सकता है; पर कभी भी उन्हें नैतिक नियम की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। इसी तरह उन कर्म-नियमों को भी, जिन्हें कुछ अंशों में सार्वभौमिक[1] समझा जा सकता है, नैतिक नियम नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे अनुभवात्मक प्रेरकों को अपने कर्म-नियमों का का आधार बनाते हैं।

इस तरह सम्पूर्ण व्यावहारिक ज्ञान पर दृष्टिपात किया जाये, तो हमें उसमें नैतिक नियम व उनके सिद्धान्त भी समविष्ट मिलते हैं। ये नैतिक सिद्धांत अन्य सभी सिद्धान्तों से, जिनमें अनुभवात्मक तत्व पाया जाता है, स्वरूपतः भिन्न रहते हैं। इतना ही नहीं, अपितु संपूर्ण नीति-दर्शन ही व्यावहारिक ज्ञान के विशुद्ध भाग पर आधारित है। जब इसे मानव पर लागू किया जाता है, तो यह मानव से या मानवशास्त्र से कुछ प्राप्त नहीं करता है; वरन् इसके विपरीत, यह मानव को बौद्धिक प्राणी होने के नाते प्राग्आनुभविक नियम प्रदान करता है। ये प्राग्आनुभविक नियम अनुभव द्वारा तीक्ष्ण की गई निर्णय-शक्ति की अपेक्षा दो कारणों से रखते हैं। हमें निर्णय-शक्ति की आवश्यकता इसलिए पड़ती है कि हम उन स्थितियों को जिन पर ये नियम लागू

---

१. उदाहरणार्थ यदि हम इस कर्म-नियम को लें कि "ईमानदारी सर्वोत्कृष्ट कूटनीति है।" यह कर्मनियम ईमानदारी के सार्वभौमिक कर्त्तव्य का आदेश देता है। इस दृष्टि से इसे सार्वभौमिक समझा जा सकता है; किन्तु कर्तव्य के प्रेरक के रूप में चूँकि वह स्वार्थ के अनुभवात्मक प्रेरक को प्रस्तुत करता है अतः इसे नैतिक नियम कदापि नहीं माना जा सकता।

होते हैं, अन्य स्थितियों से पृथक् करने में समर्थ हो सकें अर्थात् दो प्रकार की स्थितियों में भेद कर सकें। निर्णय-शक्ति की आवश्यकता का दूसरा कारण यह है कि तीक्ष्ण निर्णय-शक्ति के बिना न तो ये प्रागनुभविक नियम मानव-संकल्प में प्रवेश कर सकते हैं और न ही उसे प्रभावित करने में समर्थ हो सकते हैं। निर्णय-शक्ति के अभाव में ये हमारे संकल्प में प्रवेश करने की स्वीकृति भी प्राप्त नहीं कर सकते। निर्णय-शक्ति अथवा सामर्थ्य को तीक्ष्ण करने की आवश्यकता इसलिए पड़ती है कि मानव अनेक स्वार्थों, तृष्णाओं व इच्छाओं से घिरा रहता है। यह सत्य है कि मानव को विशुद्ध व्यावहारिक बुद्धि के 'निरुपाधिक प्रत्यय का ज्ञान हो सकता है; किन्तु अपने स्वार्थ में लिप्त, तृष्णाओं से भ्रमित तथा इच्छाओं का दास बना हुआ वह अपने जीवन व आचरण में इस प्रत्यय को मूर्त रूप में जानने की सामर्थ्य नहीं रख पाता है।

इस प्रकार चिंतन की प्रवृत्ति से सिद्ध है कि नैतिक आदर्शों की तत्व-मीमांसा अत्यधिक अनिवार्य है। इसके द्वारा ही हम उन व्यावहारिक सिद्धांतों का स्रोत खोजने में समर्थ होते हैं जो हमारी बुद्धि में अनुभव से पूर्व विद्यमान हैं। इस तत्वमीमांसा का प्रयोजन केवल इतना ही नहीं है। निर्देशक सूत्र के रूप में भी इसकी महत्ता है। इस तत्वमीमांसा के अभाव में अथवा उचित नैतिक निर्णय के इस परम प्रतिमान (norm) के अनुपस्थित रहने पर हमारे नैतिक आदर्श असुरक्षित हो जायेंगे तथा विभिन्न प्रकार से उनके दूषित होने की सम्भावना निर्मित हो जाएगी। वह इस तरह कि तब हम नैतिक नियम के समान लगने वाले किसी भी नियम को नैतिक नियम की श्रेणी में रखने में दुविधा अनुभव नहीं कर पायेंगे, परिणामस्वरूप नैतिक-अनैतिक के सूक्ष्म भेद की अवहेलना होने से नैतिक आदर्शों की पवित्रता पर आंच आयेगी। यदि कोई कर्म नैतिक दृष्टि से शुभ है, तो इतना ही पर्याप्त नहीं है कि वह नैतिक नियम के सदृश हो; किन्तु यह भी आवश्यक है कि उसे नैतिक नियम 'के लिए' किया जाए। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी कर्म के नैतिक-अनैतिक होने का निर्णय करते समय हमें अपना ध्यान उसके परिणाम व रूप पर केन्द्रित न करके, उसके स्वरूप व प्रेरणा पर केन्द्रित करना चाहिए। जहाँ पर उपर्युक्त तथ्य अर्थात् नैतिक नियम के लिए ही कर्म का किया जाना— प्राप्त न हो, वहाँ समरूपता (conformity) संदिग्ध एवं अनिश्चित है, क्योंकि काम (work) के अनैतिक (non-moral) आधार यदा-कदा ऐसे कर्मों (Action) को उत्पन्न कर देते हैं, या मानव को ऐसे कर्मों को करने के लिए प्रेरित करते हैं जो कर्म नैतिक-नियम के अनुकूल होते हैं, किन्तु 'प्रायः' ये ऐसे कर्मों को

है। वे अपने निश्चय पर दृढ़ है। कांट कहते हैं कि उपर्युक्त शास्त्र के सभी प्रवर्तकों के चिंतन में एक त्रुटि यह है कि वे बुद्धि द्वारा पूर्णतः प्राक्-आनुभविक समझे जाने वाले प्रेरकों को अनुभवात्मक प्रेरकों से पृथक् नहीं कर पाते हैं। कांट के मत में केवल प्राक्-आनुभविक प्रेरक ही पूर्णतया नैतिक प्रेरक हो सकते हैं। अनुभवात्मक प्रेरकों को "इन्द्रियाश्रित बुद्धि" (understanding) अनेक अनुभवों की केवल पारस्परिक तुलना करके ही सामान्य प्रत्ययों की श्रेणी तक ऊंचा उठाती है। कांट ऐसे नीतिशास्त्रियों की आलोचना इस आधार पर करते हैं कि ये नीतिशास्त्री दो भिन्न प्रकार के प्रेरकों—प्राक्-आनुभविक तथा अनुभवात्मक—के स्रोत् की भिन्नता की अवहेलना करते हैं, तथा उन प्रेरकों को उनकी सापेक्ष शक्ति व दौर्बल्य के आधार पर समझाने की चेष्टा करते हैं। वस्तुतः ये नीतिशास्त्री प्रेरकों में भेद न कर, समस्त प्रेरकों को एक ही प्रकार का व समरूप मानते हैं। इसी आधार पर ये कर्त्तव्य के प्रत्यय का निर्माण करते हैं। कांट दृढ़ता से कहते हैं कि ऐसा कर्त्तव्य का प्रत्यय और कुछ भी हो सकता है, किन्तु इतना निश्चित है कि यह नैतिक प्रत्यय नहीं है। कर्त्तव्य के प्रत्यय के उपर्युक्त स्वरूप की आशा केवल एक ऐसे नीति-दर्शन से की जा सकती है, जो किसी भी व्यावहारिक प्रत्यय के स्रोत् या मूलोद्गम के संबंध में यह निर्णय नहीं कर पाता है कि वे अनुभव से उद्भूत हैं अथवा उनका स्रोत् अनुभवातीत है।

कांट की पुस्तक (नैतिक आदर्शों की तत्वमीमांसा का मूलाधार) का उद्देश्य

कांट की यह हार्दिक इच्छा थी कि वे भविष्य में 'नैतिक आदर्शों की तत्वमीमांसा' नामक ग्रन्थ प्रकाशित करेंगे अतः उसके पूर्व, भूमिका के रूप में, उन्होंने इस मूलाधार (groundwork) का प्रकाशन उचित समझा। कांट यह मानते हैं कि 'नैतिक आदर्शों की तत्वमीमांसा' के लिये 'विशुद्ध व्यावहारिक बुद्धि की मीमांसा' के अतिरिक्त अन्य कोई आधार नहीं है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार प्रकृति की तत्वमीमांसा के लिये 'विशुद्ध सैद्धान्तिक बुद्धि की मीमांसा' ही एकमात्र नींव है, उसी प्रकार नैतिक आदर्शों की तत्वमीमांसा के लिये 'विशुद्ध व्यावहारिक बुद्धि की मीमांसा' आवश्यक हैं। स्मरणीय है कि 'विशुद्ध व्यावहारिक बुद्धि की मीमांसा'[१] तथा 'विशुद्ध सैद्धान्तिक बुद्धि की मीमांसा'[२] कांट द्वारा रचित दो दार्शनिक ग्रन्थों के नाम

---

१. क्रिटीक् ऑफ प्योर प्रैक्टिकल रीज़न

२. क्रिटीक् ऑफ प्योर रीज़न

हैं। कांट की दृष्टि में 'विशुद्ध व्यावहारिक बुद्धि की मीमांसा' की उतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी आवश्यकता विशुद्ध सैद्धांतिक बुद्धि की मीमांसा की है, क्योंकि नैतिकता के विषय में मानव-बुद्धि को, यहाँ तक कि अत्यधिक साधारण बुद्धि को, सहजता से यथार्थता व शुद्धता की उच्च अवस्था में पहुँचाया जा सकता है जबकि अपनी सैद्धांतिक किन्तु विशुद्ध प्रक्रिया में बुद्धि पूर्ण रूप से द्वन्द्वात्मक है अर्थात् आत्म-विरोधों व भ्रम में फंस जाती है। दूसरी ओर, यदि व्यावहारिक बुद्धि की मीमांसा पूर्ण है, तो वह यह अपेक्षा रखती है कि व्यावहारिक बुद्धि के ज्ञान के साथ ही, हमें इस योग्य होना चाहिए कि एक ही समय में हम एक ही सामान्य सिद्धांत में व्यावहारिक तथा सैद्धांतिक दोनों बुद्धि की एकता प्रदर्शित कर सकें। एकता दर्शाना इस लिये आवश्यक है, क्योंकि अन्ततः केवल एक ही बुद्धि की सत्ता संभव है। इस एक बुद्धि के विभिन्न भेद पूर्णतया उसके व्यवहार में लागू होने के आधार पर किये जाना चाहिए। व्यवहार में बुद्धि को विशुद्ध सैद्धांतिक बुद्धि से पूर्णतया पृथक् कर समझना चाहिए और इस प्रकार उसके दो रूप में भेद करना चाहिए। कांट ने अपनी पुस्तक का शीर्षक 'विशुद्ध व्यावहारिक बुद्धि की मीमांसा' रखने की अपेक्षा, 'नैतिक आदर्शों की तत्वमीमांसा का मूलाधार' इसलिये चुना, क्योंकि वे यह मानते थे कि उस समय तक वे अपने कार्य को पूर्णता तक पहुँचाने में असमर्थ रहे हैं।

इस 'मूलाधार' को प्रस्तुत करने का तीसरा कारण कांट यह बताते हैं कि चूंकि नैतिक आदर्शों की तत्वमीमांसा, अपने भयानक शीर्षक के होते हुए भी, अधिक लोकप्रिय व साधारण बुद्धि को संतुष्ट करने वाली हो सकती है अतः उन्होंने पृथक् रूप से इस परिचयात्मक ग्रन्थ को नैतिक आदर्शों की तत्व-मीमांसा के आधार के रूप में प्रस्तुत करना उपयोगी समझा है। इस परि-चयात्मक ग्रन्थ का अध्ययन कर चुकने के पश्चात् हम "नैतिक आदर्शों की तत्वमीमांसा" में चर्चित होने वाले सिद्धान्तों में पाई जाने वाली तत्संबंधी बातों की अनिवार्य सूक्ष्मताओं से भी परिचित हो जाते हैं, जिससे आगे चल कर उन्हें समझना अधिक सरल हो जाता है।

कांट के ही शब्दों में प्रस्तुत 'मूलाधार' का मुख्य उद्देश्य 'नैतिकता के सर्वोच्च सिद्धान्त का अन्वेषण व उसकी स्थापना' करना है। यह अपने आप में ऐक ऐसा कार्य है, जो अपने उद्देश्य के कारण एक पूर्ण विषय (Subject) का निर्माण करता है। इसे अन्य सभी अन्वेषणों से पृथक् रखना चाहिए। कांट कहते हैं कि नैतिकता के सर्वोच्च सिद्धान्त का अपने क्षेत्र में लागू होना

दिखाना निःसंदेह अत्यधिक उपयोगी है। व्यवहार में सिद्धांत की अभिव्यक्ति दर्शाकर सिद्धांत को पूर्ण दृढ़ता से स्थापित व प्रमाणित किया जा सकता है; किन्तु कांट ने इस 'मूलाधार' में इस कार्य को महत्व नहीं दिया है। उनकी दृष्टि में यदि वे ऐसा करते तो यह आत्म-प्रशंसा का साधन ही होता अतः लाभदायक होते हुए भी उन्होंने इसे महत्व नहीं दिया है। इस कार्य को महत्व न देने के पीछे उनकी यह मान्यता भी है कि उपयोग में किसी सिद्धांत की सफलता या सहजता तथा उसकी प्रतीत होने वाली सामर्थ्य, उस सिद्धान्त के औचित्य का कोई असंदिग्ध व निर्दोष प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर पाती है। वस्तुतः प्रतीत होने वाली सामर्थ्य व उपयोगिता, सिद्धांत की सूक्ष्म परीक्षा में बाधक होते हैं, क्योंकि वे पूर्वाग्रहों को जन्म देते हैं। उनको महत्व देने पर हमारा ध्यान सिद्धान्त के सच्चे स्वरूप की खोज से स्खलित हो जाता है।

कांट की पुस्तक की विधि

कांट ने अपने 'मूलाधार' में जिस विधि को अपनाया है उसे वे सर्वोत्तम मानते हैं। वे कहते हैं कि हमें सर्वप्रथम विश्लेषणात्मक विधि अपना कर नैतिकता संबंधी सामान्य ज्ञान से नैतिकता के सर्वोच्च सिद्धान्त के सूत्रीकरण की ओर बढ़ना चाहिए। इसके पश्चात्, समन्वयात्मक दृष्टिकोण (विधि) अपनाकर नैतिकता के सर्वोच्च सिद्धान्त तथा इसके स्रोत की परीक्षा करके पुनः सामान्य ज्ञान की ओर वापिस लौटना चाहिए। इसी सामान्य ज्ञान में हम सिद्धान्त का अवतरण पाते हैं। इस विधि के आधार पर कांट ने 'मूलाधार' की विषय-सामग्री को निम्न प्रकार से विभाजन किया है :—

(१) प्रथम अध्याय	नैतिकता के 'सामान्य बौद्धिक ज्ञान' से नैतिकता के 'दार्शनिक ज्ञान' की ओर गमन।
(२) द्वितीय अध्याय	'लोकप्रिय नीतिदर्शन' से 'नैतिक आदर्शों की तत्वमीमांसा' की ओर गमन।
(३) तृतीया अध्याय	'नैतिक आदर्शों की तत्वमीमांसा' से 'विशुद्ध व्यावहारिक बुद्धि की मीमांसा की ओर गमन' अथवा अन्तिम अवस्था।
(४) उपसंहार	

दर्शन की परिचयात्मक भूमिका[1] में पहिले ही उपलब्ध है अतः सर्वथा नवीन आधार को खोजने की आवश्यकता नहीं है। कांट द्वारा इस तरह की कल्पना पर प्रतिबन्ध लगाने का कारण संक्षेप में यह है कि इसको सार्वभौमिक व्यावहारिक दर्शन माना गया था, अतः इसके अन्तर्गत एक विशिष्ट प्रकार के संकल्प पर विचार न कर, सामान्य संकल्प या इच्छा-शक्ति तथा इससे संबंधित समस्त क्रियाओं व दशाओं (conditions) पर उपर्युक्त सामान्य दृष्टि से विचार किया गया है। यहाँ विशिष्ट संकल्प से कांट का तात्पर्य एक ऐसे संकल्प से है जो पूर्णतः प्राक्-आनुभविक सिद्धान्तों द्वारा निर्धारित होता हो तथा जो अनुभवात्मक प्रेरकों से पूर्ण पृथक् हो और इस तरह जिसे विशुद्ध संकल्प कहा जा सके। कांट कहते हैं कि उपर्युक्त अन्तर के कारण ही वुल्फ का नीतिदर्शन नैतिक आदर्शों की तत्वमीमांसा से उसी प्रकार भिन्न है, जिस प्रकार सामान्य तर्कशास्त्र इन्द्रियातीत[2] दर्शन से भिन्न है। सामान्य तर्कशास्त्र सामान्य चिंतन शक्ति[3] के नियमों व क्रियाओं को अभिव्यक्त करता है जबकि इन्द्रियातीत दर्शन विशुद्ध चिंतन के नियमों व उसकी विशिष्ट क्रियाओं को दर्शाता है। यह ऐसे चिंतन के विषय में विचार करता है जिस चिंतन के द्वारा वस्तुओं का ज्ञान पूर्णतः प्राक्-आनुभविक होता है। यहाँ कांट के मन में अपने 'इन्द्रियातीत तर्कशास्त्र' का विचार है, जिसे उन्होंने अपने ग्रन्थ "विशुद्ध बुद्धि की मीमांसा" में प्रस्तुत किया है। उनका इन्द्रियातीत तर्कशास्त्र सामान्य चिंतन-शक्ति का शास्त्र न होकर, विशुद्ध प्राक्-आनुभविक ज्ञान का तर्कशास्त्र है। कांट के मतानुसार नैतिक आदर्शों की तत्वमीमांसा का उद्देश्य संभाव्य विशुद्ध संकल्प के निरुपाधिक प्रत्यय व उसके सिद्धांतों का अन्वेषण करना है, न कि मानव के सामान्य संकल्प की क्रियाओं व दशाओं का अन्वेषण। सामान्य संकल्प संबंधी ज्ञान अधिकांशतः मनोविज्ञान से प्राप्त हो जाता है। यह सत्य है कि वुल्फ के सार्वभौमिक व्यावहारिक दर्शन में नैतिक नियमों व कर्त्तव्यों के संबंध में भी विचार-विमर्श किया गया है, (यद्यपि वह दोषमुक्त नहीं है) किन्तु इस तथ्य से कांट के कथन में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती

---

१. वुल्फ ने अपने नीतिदर्शन की परिचयात्मक भूमिका को 'सार्वभौमिक व्यावहारिक दर्शन' (Universal Practical Philosophy) कहा है। यह पुस्तक १७३८-३९ में प्रकाशित हुई थी।

२. ट्रांसेन्डेण्टल।

3. Thinking as such.

है। वे अपने निश्चय पर दृढ़ है। कांट कहते हैं कि उपर्युक्त शास्त्र के सभी प्रवर्तकों के चिंतन में एक त्रुटि यह है कि वे बुद्धि द्वारा पूर्णतः प्राक्-आनुभविक समझे जाने वाले प्रेरकों को अनुभवात्मक प्रेरकों से पृथक् नहीं कर पाते हैं। कांट के मत में केवल प्राक्-आनुभविक प्रेरक ही पूर्णतया नैतिक प्रेरक हो सकते हैं। अनुभवात्मक प्रेरकों को "इन्द्रियाश्रित बुद्धि" (understanding) अनेक अनुभवों की केवल पारस्परिक तुलना करके ही सामान्य प्रत्ययों की श्रेणी तक ऊंचा उठाती है। कांट ऐसे नीतिशास्त्रियों की आलोचना इस आधार पर करते हैं कि ये नीतिशास्त्री दो भिन्न प्रकार के प्रेरकों—प्राक्-आनुभविक तथा अनुभवात्मक—के स्रोत् की भिन्नता की अवहेलना करते हैं, तथा उन प्रेरकों को उनकी सापेक्ष शक्ति व दौर्बल्य के आधार पर समझाने की चेष्टा करते हैं। वस्तुतः ये नीतिशास्त्री प्रेरकों में भेद न कर, समस्त प्रेरकों को एक ही प्रकार का व समरूप मानते हैं। इसी आधार पर ये कर्त्तव्य के प्रत्यय का निर्माण करते हैं। कांट दृढ़ता से कहते हैं कि ऐसा कर्त्तव्य का प्रत्यय और कुछ भी हो सकता है, किन्तु इतना निश्चित है कि यह नैतिक प्रत्यय नहीं है। कर्त्तव्य के प्रत्यय के उपर्युक्त स्वरूप की आशा केवल एक ऐसे नीति-दर्शन से की जा सकती है, जो किसी भी व्यावहारिक प्रत्यय के स्रोत् या मूलोद्गम के संबंध में यह निर्णय नहीं कर पाता है कि वे अनुभव से उद्भूत हैं अथवा उनका स्रोत् अनुभवातीत है।

कांट की पुस्तक (नैतिक आदर्शों की तत्वमीमांसा का मूलाधार) का उद्देश्य

कांट की यह हार्दिक इच्छा थी कि वे भविष्य में 'नैतिक आदर्शों की तत्वमीमांसा' नामक ग्रन्थ प्रकाशित करेंगें अतः उसके पूर्व, भूमिका के रूप में, उन्होंने इस मूलाधार (groundwork) का प्रकाशन उचित समझा। कांट यह मानते हैं कि 'नैतिक आदर्शों की तत्वमीमांसा' के लिये 'विशुद्ध व्यावहारिक बुद्धि की मीमांसा' के अतिरिक्त अन्य कोई आधार नहीं है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार प्रकृति की तत्वमीमांसा के लिये 'विशुद्ध सैद्धान्तिक बुद्धि की मीमांसा' ही एकमात्र नींव है, उसी प्रकार नैतिक आदर्शों की तत्वमीमांसा के लिये 'विशुद्ध व्यावहारिक बुद्धि की मीमांसा' आवश्यक हैं। स्मरणीय है कि 'विशुद्ध व्यावहारिक बुद्धि की मीमांसा'[१] तथा 'विशुद्ध सैद्धान्तिक बुद्धि की मीमांसा'[२] कांट द्वारा रचित दो दार्शनिक ग्रन्थों के नाम

१. क्रिटीक् ऑफ प्योर प्रैक्टिकल रीज़न
२. क्रिटीक् ऑफ प्योर रीज़न

हैं। कांट की दृष्टि में 'विशुद्ध व्यावहारिक बुद्धि की मीमांसा' की उतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी आवश्यकता विशुद्ध सैद्धांतिक बुद्धि की मीमांसा की है, क्योंकि नैतिकता के विषय में मानव-बुद्धि को, यहाँ तक कि अत्यधिक साधारण बुद्धि को, सहजता से यथार्थता व शुद्धता की उच्च अवस्था में पहुँचाया जा सकता है जबकि अपनी सैद्धांतिक किन्तु विशुद्ध प्रक्रिया में बुद्धि पूर्ण रूप से द्वन्द्वात्मक है अर्थात आत्म-विरोधों व भ्रम में फंस जाती है। दूसरी ओर, यदि व्यावहारिक बुद्धि की मीमांसा पूर्ण है, तो वह यह अपेक्षा रखती है कि व्यावहारिक बुद्धि के ज्ञान के साथ ही, हमें इस योग्य होना चाहिए कि एक ही समय में हम एक ही सामान्य सिद्धांत में व्यावहारिक तथा सैद्धांतिक दोनों बुद्धि की एकता प्रदर्शित कर सकें। एकता दर्शाना इस लिये आवश्यक है, क्योंकि अन्ततः केवल एक ही बुद्धि की सत्ता संभव है। इस एक बुद्धि के विभिन्न भेद पूर्णतया उसके व्यवहार में लागू होने के आधार पर किये जाना चाहिए। व्यवहार में बुद्धि को विशुद्ध सैद्धांतिक बुद्धि से पूर्णतया पृथक् कर समझना चाहिए और इस प्रकार उसके दो रूप में भेद करना चाहिए। कांट ने अपनी पुस्तक का शीर्षक 'विशुद्ध व्यावहारिक बुद्धि की मीमांसा' रखने की अपेक्षा, 'नैतिक आदर्शों की तत्वमीमांसा का मूलाधार' इसलिये चुना, क्योंकि वे यह मानते थे कि उस समय तक वे अपने कार्य को पूर्णता तक पहुँचाने में असमर्थ रहे हैं।

इस 'मूलाधार' को प्रस्तुत करने का तीसरा कारण कांट यह बताते हैं कि चूँकि नैतिक आदर्शों की तत्वमीमांसा, अपने भयानक शीर्षक के होते हुए भी, अधिक लोकप्रिय व साधारण बुद्धि को संतुष्ट करने वाली हो सकती है अतः उन्होंने पृथक् रूप से इस परिचयात्मक ग्रन्थ को नैतिक आदर्शों की तत्व-मीमांसा के आधार के रूप में प्रस्तुत करना उपयोगी समझा है। इस परिचयात्मक ग्रन्थ का अध्ययन कर चुकने के पश्चात् हम "नैतिक आदर्शों की तत्वमीमांसा" में चर्चित होने वाले सिद्धान्तों में पाई जाने वाली तत्संबंधी बातों की अनिवार्य सूक्ष्मताओं से भी परिचित हो जाते हैं, जिससे आगे चल कर उन्हें समझना अधिक सरल हो जाता है।

कांट के ही शब्दों में प्रस्तुत 'मूलाधार' का मुख्य उद्देश्य 'नैतिकता के सर्वोच्च सिद्धान्त का अन्वेषण व उसकी स्थापना' करना है। यह अपने आप में एक ऐसा कार्य है, जो अपने उद्देश्य के कारण एक पूर्ण विषय (Subject) का निर्माण करता है। इसे अन्य सभी अन्वेषणों से पृथक् रखना चाहिए। कांट कहते हैं कि नैतिकता के सर्वोच्च सिद्धान्त का अपने क्षेत्र में लागू होना

दिखाना निःसंदेह अत्यधिक उपयोगी है। व्यवहार में सिद्धांत की अभिव्यक्ति दर्शाकर सिद्धांत को पूर्ण दृढ़ता से स्थापित व प्रमाणित किया जा सकता है; किन्तु कांट ने इस 'मूलाधार' में इस कार्य को महत्व नहीं दिया है। उनकी दृष्टि में यदि वे ऐसा करते तो यह आत्म-प्रशंसा का साधन ही होता अतः लाभदायक होते हुए भी उन्होंने इसे महत्व नहीं दिया है। इस कार्य को महत्व न देने के पीछे उनकी यह मान्यता भी है कि उपयोग में किसी सिद्धांत की सफलता या सहजता तथा उसकी प्रतीत होने वाली सामर्थ्य, उस सिद्धान्त के औचित्य का कोई असंदिग्ध व निर्दोष प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर पाती है। वस्तुतः प्रतीत होने वाली सामर्थ्य व उपयोगिता, सिद्धांत की सूक्ष्म परीक्षा में बाधक होते हैं, क्योंकि वे पूर्वाग्रहों को जन्म देते हैं। उनको महत्व देने पर हमारा ध्यान सिद्धान्त के सच्चे स्वरूप की खोज से स्खलित हो जाता है।

कांट की पुस्तक की विधि

कांट ने अपने 'मूलाधार' में जिस विधि को अपनाया है उसे वे सर्वोत्तम मानते हैं। वे कहते हैं कि हमें सर्वप्रथम विश्लेषणात्मक विधि अपना कर नैतिकता संबंधी सामान्य ज्ञान से नैतिकता के सर्वोच्च सिद्धान्त के सूत्रीकरण की ओर बढ़ना चाहिए। इसके पश्चात्, समन्वयात्मक दृष्टिकोण (विधि) अपनाकर नैतिकता के सर्वोच्च सिद्धान्त तथा इसके स्रोत की परीक्षा करके पुनः सामान्य ज्ञान की ओर वापिस लौटना चाहिए। इसी सामान्य ज्ञान में हम सिद्धान्त का अवतरण पाते हैं। इस विधि के आधार पर कांट ने 'मूलाधार' की विषय-सामग्री को निम्न प्रकार से विभाजन किया है :—

(१) प्रथम अध्याय	नैतिकता के 'सामान्य बौद्धिक ज्ञान' से नैतिकता के 'दार्शनिक ज्ञान' की ओर गमन।
(२) द्वितीय अध्याय	'लोकप्रिय नीतिदर्शन' से 'नैतिक आदर्शों की तत्वमीमांसा' की ओर गमन।
(३) तृतीया अध्याय	'नैतिक आदर्शों की तत्वमीमांसा' से 'विशुद्ध व्यावहारिक बुद्धि की मीमांसा की ओर गमन' अथवा अन्तिम अवस्था।
(४) उपसंहार	

——:०:——

प्रथम अध्याय

"नैतिकता के सामान्य बौद्धिक ज्ञान से नैतिकता के दार्शनिक ज्ञान की ओर गमन"

शुभ संकल्प

कांट की दृष्टि में, केवल शुभ संकल्प ही एकमात्र ऐसी वस्तु है, जो परम शुभ है अर्थात् जो विना किसी उपाधि के अपने आप में अथवा स्वरूपतः शुभ है। अतः वे कहते हैं कि शुभ संकल्प के अतिरिक्त संसार में, यहां तक कि संसार के बाहर भी, किसी ऐसी वस्तु के विषय में सोचना अथवा कल्पना करना असंभव है जो निरपेक्ष रूप से शुभ कही जा सके। कांट की उपर्युक्त मान्यता के विरोध में हम प्रत्युत्पन्नमति, मनीषा, निर्णयात्मिका शक्ति तथा मस्तिष्क की अन्य प्रतिभाओं का नाम ले सकते हैं। कुछ लोग साहस, चित्त की दृढ़ता व उद्देश्य-निष्ठता आदि स्वभावगत (Temperament) गुणों की चर्चा भी कर सकते हैं। निःसंदेह ये सब गुण अच्छे हैं व अनेक दृष्टियों से वांछनीय हैं, किन्तु यदि इन प्रकृतिदत्त देनों का उपयोग करने वाला तथा हम में अन्तर्निहित रहने वाला संकल्प शुभ नहीं है तो ये ही अत्यधिक हानिकारक व अशुभ भी हो सकते हैं। इस कारण से ही संकल्प के इस विशिष्ट गुण की ओर संकेत करने के लिये "चरित्र" शब्द का प्रयोग किया जाता है। कांट कहते हैं कि 'मस्तिष्क की देनों' व 'स्वभावगत गुणों' के विषय में सत्य है वही बात "सौभाग्य की देनों" के विषय में भी लागू होती है। सामर्थ्य, शक्ति, धन, आदर यहाँ तक कि स्वास्थ्य तथा संतोष व सुख इत्यादि सौभाग्य प्रदत्त हैं। इन्हें कोई भी बुरा नहीं मानता। किसी की भी दृष्टि में ये अवांछनीय नहीं होते; किन्तु ये तब तक शुभ नहीं कहे जा सकते जब तक इनके पीछे शुभ संकल्प विद्यमान न हो। शुभ संकल्प के द्वारा ही आत्मा पर पड़ने वाला इनका प्रभाव सुधारा जा सकता है व सार्वभौमिक उद्देश्यों से इनका समायोजन किया जा सकता है। शुभ संकल्प के द्वारा इनको संचालित करके ही संपूर्ण कर्म-सिद्धांत की त्रुटियां दूर की जा सकती हैं। अपने कथन की सत्यता प्रगट करने के लिये कांट यह कहते

हैं कि एक निष्पक्ष बौद्धिक द्रष्टा ऐसे व्यक्ति की निर्विघ्न सफलता या समृद्धि के संबन्ध में चिंतन करने का अनुमोदन कभी नहीं कर सकता, जिस व्यक्ति में शुभ संकल्प का नामोनिशान न हो। कांट कहते हैं कि शुभ संकल्प हमारी सुखी रहने की योग्यता के लिये अति आवश्यक शर्त है। मानव में गरिमा शुभ संकल्प के कारण ही है अतः मानव को "सच्चा सुख" तभी प्राप्त हो सकता है जब उसके कर्म शुभ संकल्प द्वारा प्रेरित हों।

कांट यह स्वीकार करते हैं कि कुछ गुण ऐसे भी होते हैं जो स्वतः इस शुभ संकल्प के सहायक होते हैं तथा जो शुभ संकल्प के कार्य को अधिक सरल बनाने में सक्षम होते हैं; किन्तु कांट उनमें कोई आंतरिक निरुपाधिक मूल्य स्वीकार नहीं करते। उनके मतानुसार ये गुण शुभ संकल्प को स्वयंसिद्ध अथवा पूर्वस्थित मानते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जब ये गुण शुभ संकल्प के अनुकूल नहीं रहते तब ये गुण शुभ न रह, अशुभ हो जाते हैं। इस तरह शुभ संकल्प गुणों को सम्माननीय बनाता है जिसके कारण हम उन्हें उनके वास्तविक स्वरूप में समझ पाते हैं। अतः इन गुणों को भी परम शुभ नहीं माना जा सकता। ऐसे गुणों का उदाहरण देते हुए कांट कहते हैं कि निरासक्ति, तटस्थता, आत्म-संयम तथा सुसंस्कृत विचार आदि गुण अनेक दृष्टियों से केवल शुभ ही नहीं हैं, वरन् वे व्यक्ति की आंतरिक सामर्थ्य का निर्माण करते भी प्रतीत हो सकते हैं तथापि उन्हें निरपेक्ष व निरुपाधिक शुभ नहीं कहा जा सकता। यद्यपि प्राचीन पीढ़ियों द्वारा ये निरपेक्ष रूप से स्तुत्य रहे हैं, किन्तु कांट के विचारानुसार, शुभ संकल्प के अभाव में ये पूर्णतः अशुभ हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, शांत स्वभाव सामान्यतया एक अच्छा गुण माना जाता है; किन्तु किसी अति क्रूर एवं दुष्ट व्यक्ति का शांत रहना न केवल उसे और अधिक भयंकर बनाता है, अपितु उसे और भी घृणास्पद बना देता है। अधिक घृणास्पद इसलिये बना देता है कि उसके शांत रहने पर हम यह सोचते हैं कि उस दुष्टात्मा व्यक्ति का उद्देश्य अपने वास्तविक स्वभाव को छुपा, दूसरों को धोखा देना है।

इस तरह यह स्पष्ट होता है कि शुभ संकल्प सापेक्ष रूप से शुभ रहने वाली अन्य समस्त वस्तुओं की सर्वोच्च उपाधि या शर्त है। यह स्वयं निरुपाधिक व निरपेक्ष है, क्योंकि यदि शुभ संकल्प को सोपाधिक व सापेक्ष माना जाये, तो यह किसी अन्य शर्त या उपाधि द्वारा बाधित होगा। फिर यह शर्त अन्य किसी शर्त द्वारा बाधित होगी। इस तरह हम अनवस्था में फंस जायेंगे और शुभ संकल्प को नैतिकता का सर्वोच्च सिद्धांत या आधार नहीं बनाया जा सकेगा। नैतिकता के क्षेत्र में अनवस्था दोष से मुक्ति तभी संभव

है, जब हम किसी न किसी निरपेक्ष अथवा सर्वोच्च आधार को स्वीकार कर लें। कांट के अनुसार यह सर्वोच्च आधार है शुभ संकल्प।

शुभ संकल्प तथा इसके परिणाम

कांट कहते हैं कि शुभ संकल्प अपने परिणाम व सफलता या सिद्धियों के कारण शुभ नहीं होता है अर्थात् यह किसी निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति के लिये उपयुक्त होने के कारण शुभ नहीं होता। इसके विपरीत, यह अपनी संकल्प क्रिया (Willing) के माध्यम से ही शुभ होता है। इस तरह शुभ संकल्प स्वतः या स्वरूपतः शुभ है। अपने आप में यह अतुल्य सम्मान का पात्र है, क्योंकि यह ऐसा किसी भी वस्तु से ऊँचा है जो किसी विशेष प्रवृत्ति (inclination) या प्रवृत्तियों के समूह का समर्थन करती है। यह संभव है कि दुर्भाग्य व नियति के प्रकोप के कारण कई बार शुभ संकल्प अभीष्ट सिद्धि में असफल रह जाये। कई बार ऐसा भी होता है कि सौतेली मां के समान व्यवहार करने वाली प्रकृति के कृपण दान के कारण शुभ संकल्प अपने उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर पाता है। कई बार अपने संपूर्ण प्रयासों के बावजूद शुभ संकल्प को केवल असफलता ही हाथ लगती है। कितनी भी विरोधी परिस्थितियाँ क्यों न हों, शुभ संकल्प हीरे के समान स्वयं अपनी ज्योति से प्रकाशित होता रहता है। शुभ संकल्प एक ऐसी वस्तु के समान है जो स्वयं ही मूल्यवान है अर्थात् शुभ संकल्प अपने मूल्य के लिये किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नहीं रखता है। उदाहरणार्थ—हम निःस्वार्थ सेवा करना चाहते हैं; पर हमारे पास न तो धन है (भाग्य की देन) और न ही शारीरिक शक्ति (प्रकृति की देन)। हम अनेक प्रयास के पश्चात् भी इन्हें प्राप्त नहीं कर पाते हैं, जिससे अपने उद्देश्य की प्राप्ति में असफल रहते हैं, किन्तु इस असफलता से हमारे शुभ संकल्प—निःस्वार्थ सेवा भावना—में कोई आँच नहीं आती। वस्तुतः शुभ संकल्प अपने आप में मूल्यवान है। विरोधी परिस्थितियाँ उपस्थित रहने पर शुभ संकल्प का मूल्य एक अभिलाषा के रूप में न होकर, उन साधनों के नियन्ता के रूप में होता है जो साधन हमारे नियंत्रण में हैं। जिस प्रकार असफलता या असिद्धि से शुभ संकल्प के मूल्य में कोई ह्रास नहीं होता, उसी प्रकार इसकी उपयोगिता तथा फलदायिता से शुभ संकल्प के मूल्य में कोई वृद्धि भी नहीं होती। इसकी उपयोगिता केवल एक ऐसी योजना या व्यवस्था है जो हमें इस योग्य बनाती है कि हम अपने दैनिक जीवन में शुभ संकल्प का अधिकाधिक समावेश कर सकें। यह उपयोगिता उन लोगों का ध्यान शुभ संकल्प की ओर आकर्षित करती है, जिन्हें शुभ संकल्प का पर्याप्त व पूर्ण ज्ञान

नहीं है। यहाँ यह स्मरणीय है कि उपयोगिता शुभ सकल्प का मूल्य निर्धारित नहीं कर सकती, न ही वह इसका मूल्य निर्धारित करती है। कांट कहते हैं कि शुभ संकल्प की उपयोगिता (Usefulness) पारंगत ज्ञानी के समक्ष शुभ संकल्प की स्तुति नहीं करती, क्योंकि विद्वान् उपयोगिता के आधार पर शुभ संकल्प को नहीं अपनाते; वरन् वे शुभ संकल्प के लिये ही शुभ संकल्प को ग्रहण करते हैं।

बुद्धि का कार्य-व्यापार (The Function of Reason)

हमने देखा कि कांट के मतानुसार शुभ संकल्प अपने आप में मूल्यवान् है। शुभ संकल्प में परम मूल्य है तथा इसके मूल्य-निर्धारण के समय समस्त उपयोगी परिणामों को छोड़ दिया जाता है। सामान्य बुद्धि भी उपर्युक्त तथ्य से पूर्ण सहमत है। फिर भी यह संदेह अवश्य उत्पन्न होता है कि शायद शुभ संकल्प के निरुपाधिक प्रत्यय का गुप्त व रहस्यमय आधार मन की कोई अत्यधिक ऊँची तरंग है। यह भी संदेह उत्पन्न होता है कि हम बुद्धि को संकल्प का नियन्ता कहकर, कहीं प्रकृति के उद्देश्य को समझने में गलती तो नहीं कर रहे हैं? इन संदेहों के निवारण के लिये कांट शुभ संकल्प के "निरुपाधिक प्रत्यय" (Idea) की परीक्षा करते हैं। स्मरणीय है कि कांट प्रकृति को सोद्देश्य मानते हैं। वे कहते हैं कि प्रकृति जब किसी अवयवात्मक या इन्द्रियात्मक जीव का निर्माण करती है, तो उसके इस निर्माण में कोई न कोई उद्देश्य अवश्य सन्निहित रहता है। प्रकृति की सोद्देश्यता को समझने के लिए हमें यह सिद्धान्त स्वीकार करना होगा कि जीव की प्रत्येक इन्द्रिय उसी उद्देश्य के लिये निर्मित की गई है जिसके लिये वह अन्य सभी इन्द्रियों से अधिक उपयुक्त व योग्य है। मानव भी प्रकृति का सृजन है। इन्द्रियों के अतिरिक्त मानव में संकल्प व बुद्धि भी पाई जाती है। कांट कहते हैं कि अब यह मान लीजिये कि मानव को संकल्प व बुद्धि से युक्त करने के पीछे प्रकृति का अन्तर्निहित मुख्य उद्देश्य मानव की सुरक्षा अथवा उसका कल्याण है। संक्षेप में कहना चाहें, तो हम यह कह सकते हैं कि मानव के संकल्प व बुद्धि के निर्माण का उद्देश्य "सुख" है। यदि हम ऐसा मानते हैं, तो पाते हैं कि मानव की बुद्धि को उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिये चुनकर प्रकृति ने अत्यधिक गलत प्रबंध किया है। वस्तुतः सुख के उद्देश्य को ध्यान में रख कर मानव जितने भी कार्य करता है तथा वह जो भी व्यवहार करता है, वे समस्त कार्य तथा व्यवहार मूलप्रवृत्तियों द्वारा ही प्रेरित होते हैं। 'सुख' के उद्देश्य की पूर्ति बुद्धि उतनी निश्चितता से नहीं कर सकती, जितनी

निश्चितता से वह मूलप्रवृत्तियों द्वारा किया जा सकता है। 'बुद्धि' मानव की मूलभूत विशेषता है। कांट मानव को 'भाग्यवान्' इसीलिये कहते हैं कि प्रकृति ने मानव को बुद्धि प्रदान की है, जो अन्य किसी भी प्राणी में नहीं पाई जाती। यदि इस बुद्धि के निर्माण का उद्देश्य मानव के "सुख" को मान लिया जाये, तो यह मानव को केवल उसके स्वभाव की सुखद प्रवृति के चिंतन में, उसकी प्रशंसा में, उसका आनंद व उपभोग करने में तथा उसके लाभप्रद कारण के प्रति उसे श्रद्धानत करने में ही रुचि लेती। तब बुद्धि व्यक्ति की संकल्प-शक्ति को इस तरह के दोषपूर्ण व कमजोर निर्देशन से मुक्त करने में सहायक न होती। वैसी स्थिति में बुद्धि संकल्प को प्रकृति के उद्देश्यों में अयोग्यतापूर्वक हस्तक्षेप करने से नहीं रोक पाती। सारांश में प्रकृति बुद्धि को 'व्यावहारिक उपयोग' में फंसने से रोकती है। प्रकृति बुद्धि को इस बात के लिये रोकती है कि बुद्धि अपनी अदूरदर्शी दृष्टि से केवल अपने सुख की प्राप्ति की योजना न बनाये, न वह सुख-प्राप्ति के साधनों का अनुमान लगाये। कांट मानते हैं कि प्रकृति स्वयं ही उद्देश्यों तथा उनके साधनों का भी चयन करती है। उद्देश्यों व साधनों के चयन के पश्चात् वह इन दोनों को बुद्धिमत्ता व सावधानी के साथ मूलप्रवृतियों के हाथों में सौंप देती है।

वास्तविक जीवन में भी हम यह पाते हैं कि एक उन्नत बुद्धि जितनी अधिक अभिरुचि जीवन तथा सुख का उपभोग करने के उद्देश्य में लेती है, उतना ही व्यक्ति वास्तविक संतोष से दूर होता जाता है। यही कारण है कि कई व्यक्तियों मे मन में बुद्धि के प्रति जुगुप्सा जागृत हो जाती है। यह बौद्धिक जुगुप्सा उन व्यक्तियों में भी कुछ-न-कुछ मात्रा में उत्पन्न होती है, जो "सुख-प्राप्ति" को बुद्धि के निर्माण का उद्देश्य मानते हैं। यह घृणा या जुगुप्सा तब उत्पन्न होती है जब ये लोग प्राप्त समस्त लाभों का संतुलन करते हैं और यह पाते हैं कि वस्तुतः उन्होंने केवल अपने दिमाग को, सुख-प्राप्ति के लाभों की अपेक्षा, और अधिक परेशानियों में फंसा लिया है। इसका सबसे ज्वलंत उदाहरण है—विज्ञान। विज्ञान हमारी बुद्धि पर आधारित है। इसने सुख-प्राप्ति के अनेक साधन निर्मित किये हैं; पर आज हम विज्ञान से सर्वाधिक आतंकित हैं। जिन लोगों में बुद्धि के प्रति जुगुप्सा जागृत हो जाती है, वे ऐसे अत्यधिक सामान्य लोगों का बहिष्कार करने की अपेक्षा उनसे घृणा करने लगते हैं, जो लोग केवल प्राकृतिक मूलप्रवृतियों के द्वारा निर्देशित होते हैं तथा जो अपनी बुद्धि को अपने आचरण पर अधिक प्रभाव डालने की आज्ञा नहीं देते। संक्षेप में, ये उन सामान्य लोगों से घृणा करने लगते हैं

जिनका आचरण बुद्धि से प्रेरित न होकर, मूलप्रवृत्तियों द्वारा प्रेरित होता है। इस तरह हमें यह मानना होगा कि "सुख-प्राप्ति" बुद्धि का उद्देश्य नहीं हो सकता। हमें उन लोगों के निर्णय को कभी भी शुभत्व का निरादर करने वाला व शुभत्व-विरोधी नहीं कहना चाहिए, जो लोग जीवन के संतोष तथा सुख के मार्ग में बुद्धि द्वारा प्रदत्त तथाकथित लाभों की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा को कम करने का प्रयास करते हैं। ये लोग मिथ्या प्रशंसा को कम ही नहीं करते; अपितु उसे शून्य से भी नीचे गिरा देते हैं। बुद्धि प्रदत्त तथाकथित लाभों के निंदक, इन विद्वानों का यह विश्वास है कि बुद्धि के निर्माण का उद्देश्य "सुख" नहीं है। यदि सुख को ही उद्देश्य मान लिया जाये, तो उस उद्देश्य की प्राप्ति बुद्धि की अपेक्षा मूलप्रवृत्तियाँ अधिक सहजता से कर सकती थीं। इन चिंतकों के सुख-विरोधी निर्णयों का अव्यक्त आधार रहता है, मानव-अस्तित्व के किसी ऐसे उद्देश्य का निरुपाधिक प्रत्यय, जो 'सुख' जैसे तुच्छ उद्देश्य से अधिक मूल्यवान है। कांट की दृष्टि में यह उद्देश्य शुभत्व की प्राप्ति है। कांट यह विश्वास करते हैं कि समस्त विश्व शुभत्व द्वारा ही शासित है। प्रकृति ने मानव में बुद्धि का निर्माण इसी विशिष्ट उद्देश्य की प्राप्ति के लिये किया है। शुभत्व मानव-अस्तित्व की सर्वोच्च शर्त या उपाधि है। कांट कहते हैं कि सर्वोच्च उपाधि के रूप में इस उद्देश्य के उपस्थित रहने पर, हमें व्यक्तियों के विषयीगत अथवा वैयक्तिक उद्देश्यों को गौण मानना चाहिए। 'सुख' किसी व्यक्ति-विशेष के जीवन का उद्देश्य हो सकता है; किन्तु इसे मानव में बुद्धि के निर्माण का उद्देश्य कदापि नहीं माना जा सकता।

बुद्धि हमारी समस्त आवश्यकताओं की संतुष्टि नहीं कर पाती। बुद्धि हमारी इच्छाओं को अपने विषयों की प्राप्ति के लिये समुचित निर्देश देने में भी पूर्णरूपेण सक्षम नहीं है। देखा जाये तो आवश्यकताओं की पूर्ति व इच्छाओं की तृप्ति के लिये बुद्धि हमें एक व्यावहारिक शक्ति के रूप में प्रकृति द्वारा प्रदान की गई है। यह एक ऐसी शक्ति है जो हमारे संकल्प पर प्रभाव डालती है। अतः बुद्धि का वास्तविक कार्य या उद्देश्य एक ऐसे संकल्प को उत्पन्न करना होना चाहिए जो संकल्प किसी अन्य उद्देश्य की प्राप्ति के लिये साधन के रूप में शुभ न होकर, स्वतः अपने स्वरूप में शुभ हो। संक्षेप में, "शुभ संकल्प" ही बुद्धि के निर्माण का उद्देश्य है। विश्व पर चिंतन करें तो हम यह पाते हैं कि प्रत्येक स्थल पर प्रकृति अपनी योग्यताओं (aptitudes) के वितरण में उद्देश्यात्मक विधि से कार्य कर रही है। प्रकृति ने बुद्धि नामक योग्यता का-निर्माण शुभ संकल्प की प्राप्ति के लिये किया है। यह शुभ संकल्प

ही एक मात्र शुभ या 'समस्त' शुभ नहीं है; अन्य वस्तुयें भी शुभ हो सकती हैं। शुभ संकल्प 'सर्वोच्च शुभ" अवश्य है। सर्वोच्च शुभ होने के कारण शुभ संकल्प शेष अन्य सभी चीजों की सर्वोच्च शर्त होना चाहिए। यहाँ तक कि इसे हमारी सुख संबधी मांगों की भी सर्वोच्च उपाधि होना चाहिए। कांट कहते हैं कि उपर्युक्त सत्य स्वीकार करने पर ही हम प्रकृति के विवेक के साथ अपने इस निरूपण व निरीक्षण का सरलता से समन्वय कर सकते हैं कि बुद्धि का परिष्कार सुख नामक द्वितीय उद्देश्य की प्राप्ति में प्रतिबंध लगा सकता है। सर्वोच्च तथा निरपेक्ष उद्देश्य की प्राप्ति के लिये बुद्धि को परिष्कृत करना अत्यधिक आवश्यक है। परिष्कृत बुद्धि कम-से-कम इस जीवन में, अनेक तरह से समझाकर हमें सुख के पीछे पागल होने से रोकती है। कांट की दृष्टि में सुख एक सोपाधिक उद्देश्य है। यदि सुख शुभ संकल्प के विरुद्ध जाता है, तो बुद्धि उसका मूल्य शून्य से भी कम कर देती है। कहने का तात्पर्य यह है कि बुद्धि शुभ संकल्प के लिये सुख का पूर्ण परित्याग भी कर देती है। ऐसा करते समय प्रकृति भी उसके विपरीत नहीं जाती। बुद्धि का सर्वोच्च व्यावहारिक कार्य शुभ संकल्प की स्थापना है। अपने इस उद्देश्य की प्राप्ति में वह एक विशिष्ट प्रकार का संतोष व आनन्द पाती है। यह संतोष व आनन्द "सुख" से अधिक उत्कृष्ट होता है। यह एक ऐसा संतोष है जो केवल बुद्धि द्वारा निर्धारित उद्देश्य की पूर्ति व सिद्धि होने पर ही प्राप्त होता है। इस संतोष व आनन्द में तथा इन्द्रियात्मक सुख में अत्यधिक भेद है। बुद्धि द्वारा निर्दिष्ट उद्देश्य की सिद्धि प्राय: इच्छाओं व प्रवृतियों के उद्देश्यों से साथ घुलमिल जाना चाहिए, तभी उचित समायोजन संभव है।

शुभ संकल्प तथा कर्तव्य

अब कांट शुभ संकल्प के प्रत्यय की व्याख्या करते हैं। यह हम देख ही चुके हैं कि कांट के मतानुसार शुभ संकल्प ही एक ऐसी चीज है, जो किसी अन्य उद्देश्य के लिए शुभ न होकर, अपने आप में ही शुभ है। कांट यह मानते हैं कि शुभ संकल्प का प्रत्यय प्रत्येक मानव की बुद्धि में पहिले ही से विद्यमान है। अत: वे कहते हैं कि इस प्रत्यय की शिक्षा देना उतना आवश्यक नहीं है, जितना आवश्यक इसके स्वरूप को स्पष्ट करना है। शुभ संकल्प की अभिव्यक्ति नैतिक कर्मों के माध्यम से होती है। नैतिक कर्मों को हम 'कर्तव्य' कहकर संबोधित करते हैं। हमारे कर्तव्य शुभ संकल्प के ही प्रतिपादक हैं। वस्तुत: वे शुभ संकल्प के सूचक हैं। यदि हम अपने सभी प्रकार के कर्मों का मूल्यांकन करें, तो हम यह देखते हैं कि शुभ संकल्प द्वारा प्रेरित कर्म सर्वोच्च

स्थान पाते हैं। शुभ संकल्प वह सर्वोच्च शर्त है जो हमारे कर्मों को नैतिक मूल्य प्रदान करता है। इस तरह "शुभ संकल्प" व "कर्तव्य" में अत्यधिक घनिष्ठ संबंध है अतः कांट कर्तव्य के प्रत्यय की चर्चा का समावेश शुभ संकल्प को समझाने के लिए करते हैं। कांट यह स्वीकार करते हैं कि वैयक्तिक सीमायें व बाधायें अनेक बार शुभ संकल्प का विरोध करती हैं; किन्तु उनका यह विरोध शुभ संकल्प के स्वरूप को आवृत करने की अपेक्षा उसे और भी प्रकाश में लाता है। ये विरोध शुभ संकल्प को और भी उज्ज्वल व कांतियुक्त बनाते हैं। व्यक्ति जितनी अधिक कठिनाईयों के बीच कर्तव्य का पालन करता है, कर्तव्य का मूल्य उतना ही बढ़ता है।

कर्तव्य का प्रेरक

कांट कर्तव्य के प्रत्यय व स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए अनेक प्रकार के कर्म के उदाहरणों द्वारा कर्तव्य की विशेषताओं को स्पष्ट करते हैं। यहाँ पर उन कर्मों की चर्चा वे नहीं करते जो स्पष्ट रूप से कर्तव्य-विरोधी या अनैतिक हैं। इन कर्मों के अन्तर्गत वे कर्म रखे जा सकते हैं जो अनैतिक होते हुए भी किसी-न-किसी उद्देश्य की दृष्टि से उपयोगी होते हैं। उदाहरणार्थ, धन की प्राप्ति के लिए किसी व्यक्ति की हत्या करना। यहाँ हत्या के कर्म का उद्देश्य धन-प्राप्ति है। इन कर्मों के संबंध में यह प्रश्न भी नहीं उठता कि क्या वे कर्तव्य के लिए किये जा सकते थे, क्योंकि ये कर्म प्रत्यक्ष रूप से कर्तव्य के विरोधी होते हैं।

कुछ कर्म ऐसे भी होते हैं जो वास्तव में कर्तव्य के अनुकूल रहते हैं; किन्तु जिनके लिए मानवों में कोई "उत्कट अभिलाषा" अथवा "अव्यवहित प्रवृत्ति" नहीं पाई जाती। इन कर्मों को संपादित करने के लिए व्यक्ति किसी अन्य इच्छा या अभिरुचि के कारण प्रवृत होता है। उदाहरणार्थः मान लीजिए कि 'अ' नामक एक व्यक्ति अपने मित्रों से बातें कर रहा है। वह देखता है कि एक अत्यधिक दरिद्र व्यक्ति उसकी ओर आ रहा है। पास आने पर दरिद्र व्यक्ति सहायतार्थ पैसे की मांग करे, इसके पूर्व ही 'अ' उसे अठन्नी निकालकर इसलिए दे देता है कि दरिद्र व्यक्ति के गिड़गिड़ाने से चलते हुए वार्तालाप में बाधा न आये। 'अ' के इस कर्म को, देखने वाले कर्तव्य कह सकते हैं क्योंकि 'अ' का यह कर्म कर्तव्य (दरिद्र व्यक्ति की सहायता करना) के अनुकूल है, पर वस्तुतः यह कर्तव्य नहीं है। इसे कर्तव्य इसलिये नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसका प्रेरक कर्तव्य-बोध नहीं है। इसका प्रेरक है वार्तालाप में व्यवधान न पड़ने की इच्छा। ऐसे कर्मों को

भी 'कर्तव्य' की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि इन कर्मों के संदर्भ में यह निश्चय करना सरल है कि कर्तव्य के अनुकूल प्रतीत होनेवाले ये कर्म कर्तव्य-भावना से प्रेरित होकर किये गये हैं अथवा नहीं। ज्यों ही हम यह पाते हैं कि ये कर्म कर्तव्य-भावना से प्रेरित न होकर, स्वार्थ के किसी उद्देश्य से प्रेरित है, त्योंही हम उन्हें कर्तव्य के पद से च्युत कर देते हैं । कांट इन कर्मों की भी चर्चा नहीं करते।

कोई कर्म कर्तव्य है अथवा नहीं, यह अंतर जानना तब और भी कठिन हो जाता है जब कोई कर्म कर्तव्य के अनुकूल होता है, तथा साथ ही व्यक्ति में इस कर्म को करने के लिए अव्यवहित (immediate) या तीव्र प्रवृति पाई जाती है। उदाहरणार्थ, यह निश्चय ही कर्तव्य के अनुकूल है कि एक दूकानदार को अपने अनुभवहीन ग्राहकों से अधिक दाम वसूल नहीं करना चाहिए। हम पाते हैं कि जहाँ अधिक प्रतियोगितापूर्ण स्थित रहती है वहाँ एक बुद्धिमान दूरदर्शी दूकानदार असमान दामों में वस्तुएं न बेचकर, सभी लोगों के लिए एक निश्चित व समान दाम रखता है, जिससे एक अबोध बच्चा भी उससे अन्य अनुभवी लोगों की तरह समान खरीदता है । इस तरह वह दूकानदार पूर्ण ईमानदारी से लोगों की सेवा करता है; किन्तु हम यह दृढ़ता-पूर्वक नहीं कह सकते कि उसका कर्म कर्तव्य-भावना से किया गया है अथवा न्याययुक्त आचरण के सिद्धांत से प्रेरित होकर किया गया है। दूकानदार के कर्म को उचित व कर्तव्य घोषित करने के लिए "अनुकूलता" तथा "अव्यवहित प्रवृत्ति" ही पर्याप्त नहीं है, क्योंकि इन दोनों के होते हुए भी यह संभव है कि दूकानदार का कर्म अंततः स्वार्थ द्वारा प्रेरित हो। साथ ही, हम उस दूकान-दार में ग्राहकों के प्रति तीव्र अभिरुचि का होना भी सच नहीं मान सकते, क्योंकि यह संभव है कि वह दूरदर्शिता से काम लेकर भविष्य में अपनी स्थिति व लाभ का विचार करके ही 'समान दाम' के अपने सिद्धांत पर प्रवृत हुआ हो। यह संभव है कि दूकानदार का उपर्युक्त कर्म न कर्तव्य-भावना से प्रेरित होकर किया गया हो, न उसे करने के पीछे दूकानदार में अव्यवहित प्रवृति पाई जाती हो। यदि यह सच है तो उसके कर्म को कर्तव्य की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि वस्तुतः उसका कर्म दूरदर्शिता व स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों से प्रेरित है।

अभी तक हमने उन कर्मों के विषय में विचार किया जिन्हें कर्तव्य नहीं कहा जा सकता। अब प्रश्न उपस्थित होता है कि कर्तव्य क्या है? कर्तव्य का उदाहरण देते हुए कांट कहते हैं कि "अपने जीवन की सुरक्षा करना"

एक कर्तव्य है। कर्तव्य होने के अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति में इसे करने की उत्कट अभिलाषा भी होती है। किन्तु जीवन की सुरक्षा को उद्देश्य मानकर, उसकी पूर्ति के लिए जो अतिरिक्त सावधानियां तथा सुरक्षात्मक कारवाईयाँ अधिकांश मानवों द्वारा की जाती हैं, उनमें कांट कोई आंतरिक मूल्य नहीं मानते। कांट कहते हैं कि जो लोग जीवन-सुरक्षा को ही अपना उद्देश्य बना कर अपने जीवन की सुरक्षा के लिए अतिरिक्त प्रबंध करते हैं उनका कर्म-सिद्धान्त नैतिक संतोष से पूर्णतः रिक्त हुआ करता है। ये लोग अपने जीवन की रक्षा कर्तव्य की भावना से प्रेरित होकर नहीं करते हैं। उनका कर्म केवल कर्तव्य के समरूप होता है। इसके विपरीत, जब दुर्भाग्य व निरंतर असफलतायें जीवन के प्रति रहने वाली समस्त आसक्ति को समाप्त कर देती हैं और मृत्यु की ओर निरंतर अग्रसर एक हतभाग्य किन्तु आत्म-विश्वासी व्यक्ति बिना किसी आसक्ति के अपने जीवन की रक्षा करता रहता है तब वस्तुतः उसके कर्म-सिद्धान्त में एक नैतिक संतोष रहता है। इस व्यक्ति के कर्म को कर्तव्य कहा जा सकता है, क्योंकि वह जीवन की रक्षा किसी अभिलाषा या अन्य उद्देश्य से न कर, कर्तव्य से प्रेरित होकर ही करता है। ऐसा व्यक्ति भीरु न होकर, भाग्य पर क्रोधित अधिक रहता है और दुर्भाग्य से निरन्तर जूझते हुए अपने कर्तव्य का पालन करता रहता है।

एक और उदाहरण कांट प्रस्तुत करते हैं। "जहाँ संभव हो वहाँ दूसरों की सहायता करो," यह कांट की दृष्टि में एक कर्तव्य है। संसार में हम ऐसी अनेक सदात्माओं को पाते हैं जो अपने सहानुभूतिशील स्वभाव के कारण किसी स्वार्थ व अहंकार से प्रेरित हुए बिना, अपने चारों ओर निरन्तर सुख की वृद्धि करने में एक आंतरिक आनन्द का अनुभव करती हैं। ऐसी आत्माएं दूसरों के संतोष में ही प्रसन्न रहती हैं। फिर भी कांट की दृष्टि में इनके सुख-वृद्धि के कर्म को कर्तव्य नहीं कहा जा सकता।

कांट कहते हैं कि उपर्युक्त स्थिति में इन सदात्माओं के कर्म को—चाहे वह कितना भी उचित व उद्देश्योन्मुख क्यों न हो—कर्तव्य की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। इन सदात्माओं के कर्म में कर्तव्य जैसा अद्वितीय नैतिक मूल्य नहीं होता। उनका यह कर्म अभिलाषा प्रेरित अन्य कर्मों का समस्तरीय ही है। उदाहरणार्थ—प्रतिष्ठा की अभिलाषा। यदि प्रतिष्ठा की इच्छा द्वारा हम किसी उचित व लाभप्रद वस्तु को, परिणामतः सम्माननीय वस्तु को प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त करते हैं, तो यह इच्छा प्रशंसा व प्रोत्साहन के योग्य होती है। यह इच्छा सम्मान व श्रद्धा का पात्र कभी नहीं हो

सकती क्योंकि इसके सिद्धांत में नैतिक संतोष का अभाव रहता है। यदि ये सदात्मायें अपने चारों ओर सुख की वृद्धि इसलिये करती हैं, क्योंकि ऐसा करने पर उन्हें सुख मिलता है या उनकी प्रतिष्ठा बढ़ती है या उन्हें लोकप्रियता मिलती है, तो उन्हें नैतिक संतोष कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता। यद्यपि उनका कर्म कर्तव्य के समरूप रहता है किन्तु इसमें नैतिक संतोष का अभाव इसलिये रहता है कि वह कर्म कर्तव्य भावना से प्रेरित न होकर, किसी इच्छा से प्रेरित होकर किया जाता है। इसके विपरीत, यदि वह मान ले कि किसी मानव-प्रेमी का चित्त अपने ही दुःख-दर्दों से परिपूर्ण है और इसी कारण उसके मन में दूसरे लोगों के भाग्य के प्रति लेशमात्र भी सहानुभूति शेष नहीं रह गई है। अपने स्वयं के दुःखों में डूबे रहने के कारण वह दूसरों की आवश्यकताओं से अधिक समय तक उत्तेजित नहीं रह पाता है। फिर भी उसमें दूसरों के कष्ट के समय उनकी सहायता करने की भावना अभी भी विद्यमान है। यदि ऐसा व्यक्ति अपने को इस निर्जीव असवेदनशीलता की स्थिति से ऊपर उठाकर दूसरों की सहायता, विना किसी स्वार्थ के, केवल कर्तव्य-भावना से प्रेरित होकर करता है, तब ऐसी स्थिति में, पहली बार उसके कर्म में नैतिक संतोष पाया जाता है और भी एक उदाहरण लिया जा सकता है। मान लीजिए, एक व्यक्ति के हृदय में प्रकृतिदत्त सहानुभूति की मात्रा कम है; किन्तु अन्य दृष्टियों से वह एक ईमानदार व्यक्ति है। यह व्यक्ति दूसरों के दुःख व पीड़ाओं से निर्विकार रहता है। संभव है कि वह दूसरों के दुःख-दर्द से इसलिये विचलित न होता हो कि उसे स्वयं अपने ही दुःखों में सहनशीलता व धैर्य रखने की क्षमता प्रकृति द्वारा विशिष्ट उपहार के रूप में मिली है अर्थात् दुःख के समय शांत रहकर उनको सहन करना उसका स्वभाव है। ऐसा व्यक्ति चाहता है कि दूसरे भी उसके ही समान व्यवहार करें अर्थात् दुःखों को धैर्यपूर्वक सहन करें। कांट कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति को कभी भी प्रकृति का सबसे निकृष्ट उत्पाद्य नहीं माना जा सकता। प्रकृति ने इस व्यक्ति को समस्त मानवों से प्रेम करने वाले व्यक्ति के रूप में निर्मित नहीं किया है, पर क्या हम यह दावा कर सकते हैं कि इस व्यक्ति के अन्दर वह स्त्रोत् नहीं है जो सर्वोच्च तथा परम मूल्यवान है? कांट कहते हैं कि निश्चय ही वह व्यक्ति इस सर्वोत्कृष्ट उद्गम को अपने भीतर पाता है। उसके चरित्र की उपर्युक्त सामर्थ्य (गहन दुःखों को भी धीरज से सहन करना) निश्चित रूप से नैतिक मूल्य को प्रगट करती है। यह नैतिक मूल्य अतुल्यनीय तथा सर्वोच्च है। दूसरे शब्दों में, उसका चरित्र यह दर्शाता है वह इच्छाओं के दबाव के कारण नहीं, वरन् कर्तव्य से प्रेरित होकर शुभ कर्म करता है।

कर्तव्य का एक और उदाहरण कांट देते हैं। वे कहते हैं कि "अपने सुख की रक्षा करना", कम-से-कम अप्रत्यक्ष रूप से, एक कर्तव्य है। कांट इसे कर्तव्य इसलिए मानते हैं, क्योंकि अतृप्त इच्छाओं तथा भूख-प्यास संबंधी अनिवार्य आवश्यकताओं के दबाव के कारण अपनी वर्तमान स्थिति से उत्पन्न असंतोष, कर्तव्य के उल्लंघन के लिए सहजता से एक प्रलोभन बन सकता है। किन्तु यहाँ भी हम यह पाते हैं कि कर्तव्य की चिन्ता किये बिना सभी मनुष्य पहिले से ही सुख-प्राप्ति के लिये तीव्र व गहरी इच्छा रखते हैं। इसका कारण यह है कि सुख के प्रत्यय में समस्त इच्छाओं की तृप्ति का विचार अन्तर्निहित रहता है। 'सुख' को समस्त इच्छाओं की पूर्ति से प्राप्त होने वाले संतोष का कुल योग कहा जाता है, फिर भी सुख की कोई परिभाषा नहीं दी जा सकती। वस्तुतः सुख का प्रत्यय अत्यधिक अनिश्चित प्रत्यय है। कांट कहते हैं कि सुख-प्राप्ति का नुस्खा प्रायः इस प्रकार का बनाया जाता है कि वह किसी न किसी इच्छा का विरोध करता है अतः व्यक्ति 'सुख' शब्द के अन्तर्गत समस्त इच्छाओं की पूर्ति से प्राप्त होने वाले संतोष का एक निश्चित व नियत प्रत्यय नहीं बना सकता है। "सुख क्या है ?" इसे अभिव्यक्त करना असंभव है। अतः कांट सुख के निरुपाधिक प्रत्यय को "संदिग्ध" प्रत्यय मानते हैं। वे कहते हैं कि हम प्रत्येक इच्छा का उद्देश्य तथा उसकी संतुष्टि के समय के संबंध में निश्चित रूप से जानते हैं। कांट मानते हैं कि कोई इच्छा सुख के इस अनिश्चित प्रत्यय का श्रेय बढ़ा सकती है। उदाहरणार्थ, एक गठिया रोगी अपनी रुचि के विषयों का आनन्द उठाने के विकल्प को चुन सकता है। वह स्वास्थ्य-सुधार संबन्धी संभाव्य किन्तु निराधार आशाओं के पीछे न दौड़, कम-से कम वर्तमान क्षण के आनन्द को होम न कर, प्रसन्न रह सकता है। मान लीजिए, इस गठिया रोगी के संकल्प को प्रभावित करने में सुख-प्राप्ति की सार्वभौमिक इच्छा असफल हो चुकी है। अच्छा स्वास्थ्य उस रोगी की दृष्टि में अनिवार्य व आवश्यक नही रह गया है। जब यह रोगी कर्तव्य-भावना से प्रेरित होकर अपने सुख की रक्षा और वृद्धि करता है तब पहली बार उसके चरित्र में वास्तविक नैतिक मूल्य पाया जाता है। गठिया रोगी द्वारा अपने सुख की रक्षा के लिये जाने वाले कर्म, नैतिक कर्म या कर्तव्य कहकर इसलिये संबोधित किये जाते हैं, क्योंकि वह इच्छाओं से प्रेरित होकर ये कर्म नहीं करता; वरन् उसके कर्म कर्तव्य के सिद्धान्तानुसार होते हैं।

कांट कहते हैं कि कर्तव्य के प्रत्यय को समझने के लिये हमें धर्म-ग्रंथों के उन अध्यायों को भी समझना चाहिए जिनमें हमें पड़ोसी से, यहाँ तक कि शत्रु से भी प्रेम करने का आदेश दिया गया है। धर्म-ग्रंथों में उल्लिखित इन

आदेशों से भी "कर्तव्य" को असंदिग्ध सत्ता का प्रमाण मिलता है। धर्मग्रंथ कभी भी स्वार्थपूर्ण प्रेम का उपदेश नहीं देते। केवल व्यावहारिक प्रेम ही आदेश का विषय हो सकता है। कांट कहते हैं कि व्यावहारिक प्रेम मानव-संकल्प में रहा करता है। यह अनुभूतियों व प्रवृत्तियों पर आश्रित न होकर, कर्म के सिद्धान्तों पर आधारित होता है। व्यावहारिक प्रेम स्वार्थ से दूषित सहानुभूति नहीं है; अपितु यह कर्तव्य से प्रेरित सहानुभूति है। कोई इच्छा हमें सहानुभूति के लिए बाध्य नहीं करती। सहानुभूति के कर्तव्य-मार्ग पर प्रायः स्वाभाविक तथा अजेय अनिच्छा खड़ी रहती है। इस अनिच्छा की अवहेलना कर शत्रु को भी प्रेम करना हमारा कर्तव्य है। यह प्रेम-निवारक (Pathological) प्रेम न होकर, व्यावहारिक प्रेम है। इसे कांट "व्यावहारिक" प्रेम इसलिए कहते हैं क्योंकि यह प्रेम विशुद्ध व्यावहारिक बुद्धि अथवा शुभ संकल्प के सिद्धांत पर आश्रित रहता है। कर्तव्य की भावना से प्रेरित होकर किया गया प्रेम "निवारक प्रेम" इसलिए नहीं कहा जाता, क्योंकि इसके माध्यम से हम किसी इच्छा की पूर्ति या उसका निवारण नहीं करते हैं। कर्तव्याश्रित प्रेम केवल कर्तव्य-पालन के लिए ही किया जाता है।

कर्तव्य का आकारिक सिद्धांत

ऊपर हमने कर्तव्य के उदाहरणों द्वारा उसके स्वरूप की चर्चा की। अब कांट उस विशुद्ध सिद्धान्त पर विचार करते हैं जिस पर कर्तव्य का प्रत्यय आश्रित है। कांट पूरी दृढ़ता से यह मानते हैं कि जो कर्म कर्तव्य-भावना से प्रेरित होकर किया जाता है, उसका नैतिक मूल्य, उसके द्वारा प्राप्त किये जाने वाले उद्देश्य में नहीं रहता है। किसी नैतिक कर्म का मूल्य उस "विषयीगत सिद्धांत" में निहित रहता है, जिसके अनुसार वह कर्म निर्धारित किया जाता है। यहाँ कांट ने "विषयीगत सिद्धांत" (Maxim) शब्द का प्रयोग करके भ्रम उत्पन्न किया है, क्योंकि आगे चलकर उनका नीतिशास्त्र केवल उन्हीं विषयीगत कर्म-सिद्धांतों को अपनाने का आदेश देता है जो 'सार्वभौमिक' होने की क्षमता रखते हों। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि विषयीगत कर्म-सिद्धांत दो प्रकार के अवश्य होते हैं। एक तो वे विषयीगत कर्म-सिद्धांत, जो सार्वभौमिक होने की क्षमता रखते हैं तथा दूसरे वे जो सार्वभौमिक नहीं हो सकते। इनमें से पहले प्रकार के विषयीगत कर्म-सिद्धांत ही स्वीकार्य हैं, तथा उनमें ही नैतिक मूल्य पाया जाता है। कांट ने यहाँ इस प्रकार का भेद किये बिना ही उपर्युक्त सम्मति प्रगट की है जिससे आगे चलकर भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती है। अतः स्मरणीय है कि यहाँ "विषयीगत कर्म-सिद्धांत"

से उनका तात्पर्य "सार्वभौमिक होने की क्षमता रखने वाले विषयीगत कर्म-सिद्धांत" से है। इसी प्रकार का विषयीगत कर्म-सिद्धांत कर्तव्य प्रेरित कर्म को नैतिक मूल्य प्रदान कर सकता है तथा वह करता है। कर्म का नैतिक मूल्य उस कर्म के विषय की प्राप्ति अथवा अभीष्ट-सिद्धि पर निर्भर नहीं रहता। किसी कर्म का नैतिक मूल्य संपूर्णतः संकल्प (Volition) के उस सिद्धांत पर निर्भर करता है जिसके अनुसार, इच्छाओं के समस्त विषयों की उपेक्षा कर, कोई कर्म क्रियान्वित किया जाता है। आगे की गई चर्चा से यह स्पष्ट हो ही चुका है कि हमारे कर्म के उद्देश्य तथा उनके परिणाम, कर्म को कोई निरपेक्ष तथा नैतिक मूल्य प्रदान नहीं कर सकते हैं। साधारणतः कर्म के उद्देश्य को साध्य व उसके परिणाम को संकल्प का प्रेरक माना जाता है। जब हम ऐसा मानकर कोई कर्म करते हैं तो हमारा वह कर्म नैतिक मूल्य रहित होता है। अब प्रश्न उठता है कि जब हम नैतिक मूल्य को संकल्प तथा कर्म के परिणाम के पारस्परिक संबंध में नहीं पाते हैं, तो इसे कहाँ पाया जा सकता है? कांट कहते हैं कि इसे संकल्प के सिद्धान्त के अतिरिक्त और कहीं भी नहीं पाया जा सकता। इसे खोजने के लिए हमें कर्मों द्वारा प्राप्त किये जा सकने वाले उद्देश्यों की उपेक्षा करनी होगी अन्यथा हम उन्हीं में भटकते रहेंगे। मानव-संकल्प दोराहे पर खड़ा है। इसके एक ओर उसका प्राक्-आनुभविक (ए-प्रायोरी) सिद्धांत है। यह सिद्धान्त पूर्णतः आकारिक है। इसके दूसरी ओर, उसका अनुभवात्मक (ए-पोस्टोरिओरी) प्रेरक है, जो पूर्णतः भौतिक है। कांट कहते हैं कि इस संकल्प को किसी-न-किसी सिद्धांत द्वारा ही निर्धारित होना चाहिए, अतः जब कोई कर्म कर्तव्य-भावना से प्रेरित होकर किया जाता है तब यह संकल्प पूर्णतः अपने आकारिक व सार्वभौमिक सिद्धांत द्वारा निर्धारित होता है। कर्तव्य करते समय प्रत्येक भौतिक (मैटीरियल) सिद्धांत को पृथक् कर दिया जाता है। सिज्विक आलोचना करते हुए कहते हैं कि कांट ने कभी भी कर्तव्य की पूर्ण संहिता को विशुद्ध आकारिक सिद्धांत से निगमित करने की चेष्टा नहीं की।[1]

नियम के प्रति श्रद्धा-भाव

उपर्युक्त चर्चा के पश्चात् कांट कर्तव्य सम्बन्धी अपनी परिभाषा प्रस्तुत करते हैं। उनकी दृष्टि में "कर्तव्य, नियम के प्रति श्रद्धा रखकर कर्म करने की अनिवार्यता है।" अपनी परिभाषा के औचित्य को प्रमाणित करने के लिये कांट यह कहते हैं कि अपने ऐच्छिक कर्म के परिणामस्वरूप प्राप्त

१. सिज्विक मैथड ऑफ एथिक्स, तृतीय संस्करण, पृ० २०७।

होने वाले किसी विषय या वस्तु के प्रति हममें अभिलाषा या प्रवृत्ति हो सकती है; किन्तु यह कभी नहीं कहा जा सकता कि हम उस विषय या वस्तु पर श्रद्धा रखते हैं। परिणाम पर श्रद्धा नहीं की जाती। श्रद्धा केवल संकल्प की क्रियाशीलता पर ही रखी जा सकती है। सामान्य इच्छाओं के प्रति भी, चाहे ये इच्छायें हमारी अपनी हों अथवा अन्य किसी व्यक्ति की, हमारे मन में श्रद्धा नहीं हो सकती। पहली स्थिति में अर्थात् कर्म के विषयों के प्रति, हम अधिक से अधिक इतना कर सकते हैं कि उनका अनुमोदन करें। दूसरी स्थिति में अर्थात् इच्छाओं के संबंध में उनके अनुमोदन के साथ, कभी-कभी हम उनके प्रति लगाव भी अनुभव करते हैं। अपने निजी लाभ के लिये हम किसी इच्छा को अच्छी मान सकते हैं। इस तरह श्रद्धा का पात्र न ही परिणाम होते हैं और न हमारी इच्छायें। तब श्रद्धा का पात्र कौन है? कांट के मत में केवल वही वस्तु या नियम (लॉ) श्रद्धा का पात्र होने की क्षमता रखता है जो हमारे संकल्प से उसके आधार के रूप में संयुक्त रहता है। यह नियम कभी भी संकल्प से परिणाम के रूप में संबंधित नहीं रहता। यह नियम हमारी इच्छाओं का सहायक नहीं होता या कम-से-कम विकल्पों के चयन के समय इच्छाओं की गणना नहीं करता। यह केवल एक ऐसे नियम के रूप में हमारे समक्ष आता है, जो नियम किसी अन्य उद्देश्य की प्राप्ति के लिये न होकर, स्वयं अपने लिये ही होता है। केवल यही नियम हमारे लिये "आदेश" (कमान्ड) हो सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कर्तव्य-भावना से प्रेरित होकर किया गया कर्म इच्छा के प्रभाव को सर्वथा हटा देता है तथा इच्छा के साथ-ही-साथ वह संकल्प के प्रत्येक विषय को भी अस्वीकार कर देता है। इस तरह न विषय शेष रहता है न इच्छा। ऐसी स्थिति में संकल्प को निर्धारित करने के लिये वस्तुगत दृष्टि से "नियम", तथा विषयीगत दृष्टि से उपर्युक्त व्यावहारिक नियम के प्रति "विशुद्ध श्रद्धा" ही, समर्थ होती है। इसे रेखाचित्र द्वारा भी दर्शाया जा सकता है :
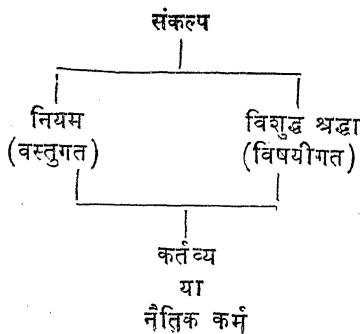
कांट यह मानते हैं कि केवल वही विषयीगत सिद्धान्त संकल्प को प्रभावित करने में समर्थ होता है, जो व्यक्ति की समस्त इच्छाओं व तृष्णाओं का दमन कर उसे उपर्युक्त वस्तुगत व सार्वभौमिक नियम के पालन का आदेश देता है।

इस तरह किसी कर्म का नैतिक मूल्य उसके परिणाम पर निर्भर नहीं है। अतः वह ऐसे कर्म-सिद्धांत पर भी आश्रित नहीं है, जो संभावित परिणामों से अपने प्रेरक को उधार लेने की आवश्यकता अनुभव करता है। परिणामों से प्रेरणा प्राप्त करने वाला कर्म-सिद्धांत कभी भी नैतिक कर्म का आधार नहीं बन सकता है। परिणामों का उत्पादन बौद्धिक प्राणी के संकल्प की अपेक्षा नहीं रखता। समस्त परिणाम-अनुकूल परिस्थितियाँ, यहाँ तक कि दूसरों के सुख में वृद्धि इत्यादि—अन्य साधनों से भी प्राप्त किये जा सकते हैं, अतः वे संकल्प की अपेक्षा नहीं रखते। पर केवल बौद्धिक संकल्प में ही सर्वोच्च तथा निरपेक्ष शुभ की प्राप्ति संभव है। सार्वभौमिक नियम का प्रत्यय केवल बौद्धिक प्राणी में ही विद्यमान रहता है और केवल यही प्रत्यय स्वयं ही संकल्प को निर्धारित करने वाला आधार है। वस्तुगत नियम का यह प्रत्यय ही उस पूर्वश्रेष्ठ शुभ का निर्माण कर सकता है, जिसे हम नैतिक आदर्श (मॉरल) कहते हैं। यह शुभ संकल्प नियम के आधार पर कर्म करने वाले प्रत्येक व्यक्ति में पहिले से ही विद्यमान रहता है तथा इसकी आशा केवल परिणाम से नहीं की जाती। इसे पूर्वश्रेष्ठ (प्री-एमीनेन्ट) शुभ कांट इसलिये कहते हैं कि यह निरपेक्ष रूप से शुभ है। इसकी श्रेष्ठता किसी अन्य वस्तु या शर्त पर आधारित श्रेष्ठता नहीं है।

निरपेक्ष आदेश (कैटेगोरिकल इम्परेटिव)

प्रश्न उठता है कि यह किस प्रकार का नियम है जिसका विचार इससे प्राप्त किये जाने वाले परिणामों की बिल्कुल ही चिन्ता न कर, परम शुभ तथा निरुपाधिक संकल्प को निर्धारित करता है। हम देख चुके हैं कि कांट प्रत्येक उस प्रलोभन को, इच्छा को हेय समझकर बहिष्कृत कर चुके हैं, जो प्रलोभन किसी व्यक्तिगत नियम का पालन करने के फलस्वरूप हमारे संकल्प के लिये उत्पन्न हो सकता है। ऐसी स्थिति में, "सामान्य सार्वभौमिक नियम से कर्म की समरूपता" ही शेष रह जाती है, जिसे संकल्प के सिद्धांत के रूप में बौद्धिक प्राणी के संकल्प के लिये उपयोगी मानना होगा। दूसरे शब्दों में, "हमें अन्य किसी प्रकार से कर्म न करके, केवल इस प्रकार कर्म करना चाहिए, जिससे हम यह इच्छा भी कर सकें कि कर्म का हमारा विषयीगत सिद्धांत एक

सार्वभौमिक नियम होना चाहिए"। कहने का तात्पर्य यह है कि हमें केवल उसी विषयीगत सिद्धांत के आधार पर कर्म करना चाहिए जो विषयीगत सिद्धांत उसी समय एक सार्वभौमिक नियम का रूप धारण करने में समर्थ हो। सामान्य सार्वभौमिक नियम के साथ 'कर्म की विशुद्ध समरूपता' संकल्प के सिद्धांत के रूप में संकल्प की सहायता करती है। नियम व कर्म को पृथक् करने पर यही "विशुद्ध समरूपता" शेष रह जाती है। यह स्मरणीय है कि सार्वभौमिक नियम के अन्तर्गत उस नियम को नहीं लिया जाता जो किसी विशेष कर्म को करने की आज्ञा देता है। कांट कहते हैं कि यदि 'कर्तव्य' के प्रत्यय को एक विभ्रम अथवा काल्पनिक प्रत्यय होने से बचाना है, तो हमें 'विशुद्ध समरूपता' को स्वीकार करना होगा। मानव की साधारण बुद्धि भी अपने व्यावहारिक निर्णयों में उपर्युक्त कथन से पूर्णतः सहमत है और अपने समक्ष सदैव पूर्वोक्त सिद्धांत को रखती है। एबॉट की दृष्टि में निरपेक्ष आदेश भावात्मक की अपेक्षा निषेधात्मक अधिक है, तथा कर्मों की नैतिकता जांचने की कसौटी के रूप में पर्याप्त स्पष्ट नहीं है।[1]

उदाहरण के लिये एक घटना को लीजिये। यह संभव है कि अधिक दबाब डाले जाने पर 'अ' कोई वायदा उसे पूरा न करने के अभिप्राय से कर सकता है। इस संदर्भ में हमारे सामने दो प्रश्न उपस्थित होते हैं। इन संभाव्य दो प्रश्नों में स्पष्टतः भेद किया जा सकता है। पहला प्रश्न होगा क्या झूठा वायदा करना 'दूरदर्शिता' है? दूसरा प्रश्न होगा क्या झूठा वायदा करना 'उचित' है? इसमें कोई संदेह नहीं कि 'अ' का यह कर्म दूरदर्शितापूर्ण है। पर 'अ' के कर्म को 'उचित' कहना सरल नहीं है, क्योंकि वर्तमान कठिन परिस्थिति से मुक्त होना अथवा इस तरह से अपने आपको पृथक् कर लेना ही 'अ' के कर्म के औचित्य-निर्धारण के लिये पर्याप्त नहीं है। औचित्य-निर्धारण करते समय हमें यह भी सोचना चाहिए कि क्या झूठ बोलने के परिणामस्वरूप भविष्य में होने वाली असुविधा, उस असुविधा से कहीं अधिक न होगी, जिससे 'अ' झूठ बोलकर इस समय बचने का प्रयास कर रहा है। हमें यह भी सोचना चाहिए कि क्या 'अ' के लिये यह कर्म अधिक दूरदर्शितापूर्ण नहीं हो सकता कि वह इस सामान्य विषयीगत सिद्धांत पर चले और यह अपनी आदत बना ले कि वह कोई भी वायदा या प्रतिज्ञा तब ही करेगा, जब उसके पालन की भावना उसके मन में होगी। इस प्रकार विचार करने

१. टी० के० एबॉट, कांट्सक्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीज़न एण्ड अदर वर्क्स ऑन द थ्योरी ऑफ एथिक्स, षष्ठम संस्करण, पृ० १।

से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'अ' का उपर्युक्त विषयीगत सिद्धांत सदैव ही पूर्णतः परिणामों के भय पर ही आश्रित रहता है। कर्तव्य के लिये सत्य बोलना, उस सत्य-भाषण से पूर्णतया भिन्न है जो असुविधाजनक परिणामों से बचने के लिये किया जाता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति इसलिये सत्य बोलता है कि सत्य बोलने से वह दूसरों द्वारा लांछित होने से बच सकता है, तो उसके इस कर्म को कर्तव्य नहीं कहा जा सकता। इस तरह कर्तव्य-भावना से प्रेरित होकर सत्य बोलना तथा परिणामों से प्रभावित होकर सत्य बोलना दो अलग चीजें हैं। पहली स्थिति में, कर्म के प्रत्यय में ही हमारे लिये कर्म का नियम अन्तर्निहित रहता है, जबकि द्वितीय स्थिति में सर्वप्रथम हम चारों ओर यह देखते हैं कि हमारे सत्य-भाषण के क्या परिणाम हो सकते हैं। यदि ये परिणाम लाभप्रद होते हैं, तभी हम सत्य बोलने के कर्म को संपादित करते हैं, अन्यथा नहीं। पहली स्थिति में यह कर्तव्य कहा जायेगा, किन्तु द्वितीय स्थिति में इसे कर्तव्य नहीं कहा जा सकता। कांट कहते हैं कि कर्तव्य के सिद्धांत से च्युत होना निश्चित रूप से बुरा है। इसके विपरीत, यदि हम अपने दूरदर्शितापूर्ण विषयीगत सिद्धांत का त्याग करते हैं तो वह प्रायः हमारे लिये अधिक लाभप्रद हो सकता है। उदाहरणार्थ एक समस्या लीजिये—क्या झूठा वायदा करना कर्तव्य अनुकूल हो सकता है? यदि हम इस समस्या का समाधान शीघ्र अति शीघ्र करना चाहते हैं, अथवा इस प्रश्न का त्रुटिऽ-हीन उत्तर जानना चाहते हैं, तो हमें अपने आप से यह प्रश्न पूँछना चाहिए कि क्या हम अपने इस विषयीगत सिद्धांत—कठिनाई के समय झूठा वायदा कर लाभान्वित होना—के सार्वभौमिक नियम के रूप में परिणत होने पर वस्तुतः संतुष्ट हो सकेंगे? दूसरे शब्दों में, हमें अपने से यह पूँछना चाहिए कि क्या हम अपने विषयीगत सिद्धांत के सार्वभौमिक नियम बन जाने की इच्छा रखते हैं? और भी सरल शब्दों में कहें, तो हमें यह देखना चाहिए कि क्या हम स्वयं यह कह सकते हैं कि ऐसा प्रत्येक व्यक्ति जो किसी कठिनाई की स्थिति से अन्य तरीकों द्वारा अपने आपको नहीं बचा सकता है, वह झूठा वायदा कर अपने को कठिनाई से बचा सकता है। इस तरह अपने-आप से प्रश्न पूँछने व उनके उत्तरों पर चिंतन करने से हमें यह बोध होगा कि हम झूठ बोलने की इच्छा स्वयं तो कर सकते हैं, किन्तु हम असत्य-भाषण के सार्वभौमिक नियम की इच्छा किसी भी स्थिति में नहीं कर सकते। यह इच्छा हम इसलिये नहीं कर सकते क्योंकि असत्य-भाषण का सार्वभौमिक नियम बन जाने पर 'वायदा' या 'प्रतिज्ञा' की सत्ता ही नहीं रह सकती है। वह इसलिये कि भविष्य में उन व्यक्तियों के प्रति कोई कार्य करने की

इच्छा स्वीकार करना व्यर्थ होगा जो हमारी इस प्रतिज्ञा में विश्वास न करेंगे। दूसरी ओर, यदि जल्दबाजी के कारण अन्य लोग हमारी प्रतिज्ञा स्वीकार कर भी लेंगे, तो वे हमसे भी वैसी झूठी प्रतिज्ञा करेंगे जैसी हम उनसे करते हैं। इस तरह "जैसे को तैसा" वाली उक्ति यहाँ चरितार्थ होगी। परिणाम-स्वरूप मेरा या हमारा विषयीगत सिद्धांत ज्यों ही सार्वभौमिक नियम बनाया जायेगा, त्यों ही वह अपने आप को समाप्त कर लेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि मेरे उपर्युक्त विषयीगत सिद्धांत का सार्वभौमिक रूप से अनुसरण किया जाता, तो किसी भी प्रकार की प्रतिज्ञा संभव ही नहीं हो सकती। यदि "झूठा वायदा करना" सार्वभौमिक हो जाये अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति झूठा वायदा करने लगे, तो वायदा करने वाला तथा जिससे वायदा किया जा रहा है, दोनों इस तथ्य से परिचित रहेंगे कि झूठा वायदा किया जा रहा है। ऐसी स्थिति में, जबकि दोनों वायदे के झूठेपन से परिचित हों, प्रतिज्ञा या वायदा नाम की किसी भी चीज की सत्ता नहीं रह जायेगी।

शुभ संकल्प की प्राप्ति के लिये हमें क्या करना चाहिए, यह जानने के लिये हमें न तो ऊँची कल्पना-शक्ति की आवश्यकता है, और न युक्तियों की आवश्यकता। यदि हम शुभ संकल्प की प्राप्ति करना चाहते हैं, तो हमें यह चिन्ता नहीं करनी चाहिए कि विश्व के कार्य-व्यापार में हम नौसिखिया हैं या हम विश्व में पाये जाने वाले समस्त अवसरों का लाभ उठाने के अयोग्य हैं। हमें केवल अपने से यह पूछना चाहिए कि "क्या हम यह भी इच्छा कर सकते हैं कि हमारा विषयीगत कर्म-सिद्धांत एक सार्वभौमिक नियम बने ?" यदि हम ऐसी इच्छा नहीं कर सकते हों, तो हमें अपने विषयीगत सिद्धान्ताधार पर किये जाने वाले कर्म को अस्वीकार कर देना चाहिए। यहाँ यह स्मरणीय है कि हमारी उपर्युक्त अस्वीकृति अपनी क्षति या दूसरों को भविष्य में होने वाली हानियों के विचार के कारण नहीं होनी चाहिए। किसी कर्म को केवल इसलिये अस्वीकार किया जाना चाहिए कि वह कर्म सार्वभौमिक नियम की संतोषप्रद संभाव्य व्यवस्था में एक सिद्धांत का पद पाने के योग्य नहीं है। यदि हम सार्वभौमिक नियम के रूप में अपने विषयीगत कर्म-सिद्धांत की इच्छा कर सकते हों, तभी हमें अपने विषयीगत सिद्धान्ताधार पर कोई कर्म करना चाहिए; क्योंकि तब वह कर्म नैतिक कर्म होगा। सार्वभौमिक नियम की संतोषप्रद संभाव्य शासन-व्यवस्था के प्रति हमारी बुद्धि हमारी ऐच्छिक व तात्कालिक श्रद्धा को प्रेरित करती है। इस श्रद्धा के आधारों का अन्वेषण केवल दार्शनिक या चिन्तक कर सकते हैं। कांट स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि श्रद्धा के इन आधारों के संबंध में उन्हें अन्तर्दृष्टि या अन्तर्ज्ञान प्राप्त

नहीं है। स्मरणीय है कि कांट के लिए अन्तर्ज्ञान (insight) ज्ञान की सर्वोच्च श्रेणी है। कांट की दृष्टि में श्रद्धा एक ऐसे मूल्य का निर्धारण है, जो मूल्य इच्छाओं द्वारा आदेशित किसी कर्म के संपूर्ण मूल्य की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। कांट के मतानुसार व्यावहारिक नियम के प्रति विशुद्ध श्रद्धा रख कर कर्म करने को बौद्धिक प्राणी की अनिवार्यता ही कर्तव्य का निर्माण करती है। इस कर्तव्य के लिये अन्य प्रेरणाओं को मार्ग देना चाहिए, क्योंकि यह एक ऐसे संकल्प की शर्त या उपाधि है जो संकल्प स्वतः शुभ है। स्वयं ही शुभ रहने वाले संकल्प का मूल्य अन्य समस्त वस्तुओं के मूल्य से अधिक है। शुभ संकल्प सर्वोच्च मूल्य निहित है।

सामान्य व्यावहारिक बुद्धि

सामान्य मानव-बुद्धि को प्राप्त नैतिक ज्ञान के विषय में अध्ययन करते हुए हम नैतिकता के सर्वोच्च या आधारभूत सिद्धांत तक पहुँच चुके हैं। हमने देखा कि सामान्य मानव-बुद्धि इस सिद्धांत को इसके अमूर्त रूप में नहीं समझ पाती है। वह नैतिकता के सर्वोच्च सिद्धांत को उसके सार्वभौमिक आकार (form) में नहीं समझ पाती है। किन्तु वह सदैव नैतिकता के सर्वोच्च सिद्धांत को अपने दृष्टिक्षेत्र में पाती है। नैतिक निर्णय को कसौटी के रूप में मानव-बुद्धि इसका उपयोग भी करती है। कांट अब यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि किस प्रकार सामान्य मानवबुद्धि इस निर्णायक साधन को हाथ में लेकर समस्त प्रस्तुत परिस्थितियों में शुभ-अशुभ का भेद करने में समर्थ होती है। क्या शुभ है अथवा क्या अशुभ है? क्या उचित है तथा क्या अनुचित है? यह जानने के लिये सामान्य मानव-बुद्धि सर्वोच्च नैतिक सिद्धांत की सहायता लिया करती है। कांट कहते हैं कि शुभ-अशुभ सम्बन्धी निर्णय करने के लिये बुद्धि को कोई नवीन बात सिखाने की आवश्यकता नहीं है। बुद्धि को केवल अपना निजी सिद्धांत जानने का प्रयास करना चाहिए। यहाँ कांट की विचारधारा ग्रीक दार्शनिक सुकरात की विचारधारा से मिलती-जुलती है। यदि हमें यह जानना है कि किसी व्यक्ति को ईमानदार तथा नैतिक बनने के लिये क्या करना चाहिए? यदि हमें यह पता लगाना है कि किसी व्यक्ति को सद्गुणी तथा विवेकशील बनने के लिये क्या करना चाहिए? तो हमें किसी शास्त्र अथवा दर्शन की आवश्यकता नहीं है। हमें उस कर्म को जानने की भी आवश्यकता नहीं है जिसे प्रत्येक व्यक्ति, यहाँ तक कि साधारण से साधारण व्यक्ति, भी करने के लिये बाध्य है तथा जिसका प्रत्येक मनुष्य को ज्ञान है। कांट कहते हैं कि साधारण मनुष्य सैद्धांतिक निर्णयों की अपेक्षा

व्यावहारिक निर्णयों को अधिक महत्व देते हैं। साधारण मानव के व्यावहारिक निर्णय उसके सैद्धान्तिक निर्णयों पर शासन किया करते हैं। इससे जो लाभ है वह प्रशंसनीय है। सैद्धान्तिक निर्णयों में साधारण मानव-बुद्धि अपने को इन्द्रियानुभव के नियमों तथा इन्द्रिय-प्रत्यक्षों से पृथक् रखने का साहस करती है। जब वह ऐसा करती है तब वह आत्मविरोध व अबोध्यता में फंस जाती है। यदि आत्म-विरोध व अबोध्यता में नहीं फंसती, तो कम-से-कम अनिश्चितता, दुर्बोध्यता तथा अस्थिरता में फंस जाती है।

दूसरी ओर, जब हम मानव-बुद्धि के व्यावहारिक पक्ष की ओर देखते हैं तो हम यह पाते हैं कि उसकी निर्णयात्मिका शक्ति सर्वप्रथम अपने आप में निहित उन लाभों को प्रदर्शित करती है जो साधारण बुद्धि द्वारा इन्द्रिय-प्रेरणाओं को व्यावहारिक नियमों से पृथक् कर देने पर प्राप्त होते हैं। इसके पश्चात्, सामान्य व्यावहारिक बुद्धि और सूक्ष्म हो जाती है और वह अंतरात्मा के साथ इस विषय पर चिन्तन करने का दावा करती है कि किस कर्म को उचित कहा जाना चाहिए। सूक्ष्म चिन्तन के क्षेत्र में प्रवेश कर यह स्वयं अपने निर्देशन के लिये, ईमानदारी से अनेक कर्मों के मूल्य-निर्धारण का प्रयास कर सकती है। कर्मों के मूल्य-निर्धारण में यह उतनी ही सफलता प्राप्त कर सकती है जितनी सफलता-प्राप्ति की आशा एक दार्शनिक अपने आप से रख सकता है। कांट तो यहाँ तक मानते हैं कि इस कार्य में साधारण व्यावहारिक बुद्धि की सफलता एक दार्शनिक की सफलता की अपेक्षा कहीं अधिक निश्चित रहती है। दार्शनिक के पास साधारण बुद्धि के सिद्धांत से भिन्न कोई अन्य सिद्धांत नहीं हो सकता है, किन्तु फिर भी वह विभिन्न असम्बद्ध विचारों के पुंज के साथ अपने निर्णय को बड़ी सहजता से भ्रमित कर सकता है जिसके कारण वह पथभ्रष्ट हो, असफल रह जाता है। उपर्युक्त चर्चा से मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि साधारण बुद्धि इतनी सक्षम है तो नैतिकता संबंधी ज्ञान के लिये क्यों न हम इसी पर आश्रित रहें ? यदि हमारी साधारण बुद्धि इतनी समर्थ है तो क्या यह परामर्श उपयुक्त न होगा कि नैतिक प्रश्नों के सम्बन्ध में हमें साधारण बुद्धि के निर्णयों पर आश्रित रहना चाहिए। तब यह परामर्श भी दिया जा सकता है कि नैतिक आदर्शों की प्रणाली को और अधिक पूर्ण व सुबोध्य बनाने के लिये हमें दर्शनशास्त्र में साधारण बुद्धि के निर्णयों का स्वागत करना चाहिए। यह भी सुझाव दिया जा सकता है कि यदि वस्तुतः साधारण बुद्धि इतनी योग्य है, तो नैतिक नियमों को उपयोग के लिये और अधिक सुविधाजनक बनाने के लिये विशुद्ध नीतिशास्त्र को इसकी ही सहायता लेनी चाहिए। दूसरी ओर, यह विचार भी आता है

कि क्या यह अधिक उचित न होगा कि हम साधारण मानव-बुद्धि को किसी भी कर्म के संदर्भ में उसनी सुखद सरलता से पृथक् करने की चेष्टा न करें तथा इस बुद्धि को दर्शनशास्त्र (विशुद्ध नीतिशास्त्र) के माध्यम से निर्देशन व अन्वेषण के नवीन पथ पर न चलायें ? कांट ने इन प्रश्नों को अपनी पुस्तक में अनुत्तरित छोड़ दिया है। किन्तु इनके तुरन्त बाद उन्होंने दर्शनशास्त्र की आवश्यकता के विषय में चर्चा की है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि नैतिकता सम्बन्धी विचार-विमर्श के लिये कांट साधारण बुद्धि के चिन्तन को पर्याप्त नहीं मानते ।

दर्शनशास्त्र की आवश्यकता

इसमें दो मत नहीं हो सकते कि पूर्ण नैतिक आदर्श एक श्रेष्ठ व भव्य चीज है, किन्तु इसका दुर्भाग्य यह है कि इसकी सुरक्षा करना तथा इसको जीवन में साकार करना कठिन काम है। इतना ही नहीं, हम इसे समझने में प्रायः गलती भी कर जाते हैं। यही कारण है इसका यथार्थ स्वरूप समझने के लिये हमें किसी शास्त्र की आवश्यकता पड़ती है। उदाहरणार्थ विवेक का संबंध कर्म या शारीरिक क्रिया (doing) से है, पर शारीरिक क्रिया की अपेक्षा ज्ञान-क्रिया से अधिक है। इस विवेक का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिये भी अन्ततः विज्ञान की शरण लेना पड़ती है। हमारे विवेक को शास्त्र या विज्ञान की आवश्यकता इसलिये नहीं पड़ती कि विज्ञान से उसे कुछ नई शिक्षा लेनी है; अपितु अपने निजी आदर्शों हेतु स्वीकृति जीतने के लिये तथा उनकी सुदीर्घकालिकता प्राप्त करने के लिये ही वह अपने शास्त्र की अपेक्षा रखता है।

मनुष्य अपने भीतर दो समतुल्य परस्पर विरोधी शक्तियों को अनुभव करता है। एक ओर, वह अपने में कर्तव्य की समस्त आज्ञाओं के प्रति एक सशक्त झुकाव अनुभव करता है तथा दूसरी ओर, अपनी इच्छाओं, तृष्णाओं व स्वार्थ आदि के प्रति उतना ही सशक्त आकर्षण भी अनुभव करता है। विशुद्ध बुद्धि उसे कर्त्तव्य सम्बन्धी आज्ञायें प्रदान करती है। ये आज्ञायें मनुष्य के लिये आदरणीय होती हैं। दूसरी ओर उसकी आवश्यकतायें व इच्छायें हैं, जिनकी संतुष्टि के कुल योग को वह 'सुख' कहता है। विशुद्ध बुद्धि आवश्यकताओं व इच्छाओं को किसी भी प्रकार की रियायत नहीं देती। वह उन्हें कुछ भी देने की प्रतिज्ञा नहीं करती और पूर्ण निष्ठुरता व कट्टरता से अपनी आज्ञाओं के पालन का आदेश मनुष्य को देती है। इस प्रकार विशुद्ध बुद्धि मनुष्य

की आवश्यकताओं, इच्छाओं तथा स्वार्थों आदि के समानाधिकार की अवहेलना कर व उनका तिरस्कार कर, अपनी आज्ञाओं को महत्व देती है। दूसरी ओर, मनुष्य की आवश्यकतायें, उसके स्वार्थ तथा उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों इत्यादि बुद्धि की आज्ञाओं का पालन करना अस्वीकार करती हैं। वे बुद्धि द्वारा शासित नहीं होना चाहतीं। इसी स्थिति के कारण मानव के भीतर "स्वाभाविक द्वन्द्व" उत्पन्न होता है। इस स्वाभाविक द्वन्द्व की स्थिति में मनुष्य में एक प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, जो कर्तव्य के इन कठोर नियमों या आज्ञाओं के साथ वाक्छल करती है। इस प्रवृति के जागृत होने पर मनुष्य कर्तव्य की प्रामाणिकता पर संदेह करने लगता है। यदि वह प्रामाणिकता पर संदेह न भी करे, तो कम-से-कम कर्तव्य की निरपेक्ष आज्ञाओं की शुद्धता व कठोरता पर संदेह करने लगता है। यहाँ तक कि मनुष्य यह चेष्टा करता है कि ये निरपेक्ष आज्ञायें हमारी इच्छाओं, आवश्यकताओं व स्वार्थ इत्यादि के अनुकूल बन जायें। मनुष्य में उत्पन्न होने वाली यह शंकालु प्रवृत्ति कर्तव्य की आज्ञाओं के मुख्याधारों को विकृत व दूषित कर देती है। इस तरह यह प्रवृति उनका समस्त गौरव नष्ट कर देती है। कांट कहते हैं कि स्वाभाविक द्वन्द्व के उपर्युक्त परिणाम को स्वीकार करने में साधारण मानव-बुद्धि भी अन्त में असमर्थ रहती है।

इस तरह मानव की सामान्य बुद्धि अपने निजी क्षेत्र का त्याग कर, व्यावहारिक दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में प्रवेश करने के लिये प्रोत्साहित की जाती है। इसे व्यावहारिक दर्शनशास्त्र की आवश्यकता संकल्पनात्मक चिन्तन के लिये नहीं होती। पूर्णतः व्यावहारिक आधारों पर ही यह व्यावहारिक दर्शन-शास्त्र की आकांक्षा रखती है। कांट कहते हैं कि जब तक सामान्य बुद्धि सही तरीके से सोचती व चिन्तन करती है, तब तक वह अपने में ही संतुष्ट रहती है, और उसे संकल्पना (speculation) की कोई आवश्यकता नहीं रहती।

सामान्य मानव-बुद्धि को व्यावहारिक दर्शनशास्त्र की आवश्यकता इसलिए होती है कि इसके द्वारा वह अपने स्वयं के सिद्धांत के स्त्रोत के विषय में निश्चित सूचना व उचित निर्देशन प्राप्त कर सकती है। व्यावहारिक दर्शन-शास्त्र की सत्ता इसलिये भी आवश्यक है जिससे हमारी समान्य बुद्धि अपने सिद्धांत के सही उद्देश्य व कार्य से परिचत हो सके। आवश्यकताओं व इच्छाओं पर आधारित विषयीगत सिद्धांत उसके व्यावहारिक सिद्धांत से भिन्न है, यह जानने के लिये भी सामान्य बुद्धि को दर्शनशास्त्र की आवश्यकता है।

आगे हम यह देख ही चुके हैं कि सामान्य बुद्धि बड़ी सहजता से 'द्वन्द्व' में फंस जाती है। इस द्वन्द्व से मुक्ति तभी संभव है जब सामान्थ बुद्धि व्यावहारिक दर्शनशास्त्र से परिचित हो। व्यावहारिक दर्शनशास्त्र तुलना करके यह स्पष्ट कर देता है कि बुद्धि के सिद्धांत तथा इच्छाओं आदि पर आश्रित विषयीगत सिद्धांतों में नितान्त भेद है। इस भिन्नता से परिचित होने पर सामान्य बुद्धि समतुल्य विरोधी प्रभावों के द्वन्द्व से मुक्त हो जाती है। समुचित ज्ञान प्राप्त हो जाने पर, सामान्य मानव-बुद्धि अद्वितीय नैतिक सिद्धान्तों से वंचित होने के संकट से बच सकती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सामान्य बुद्धि जब अपने व्यावहारिक उपयोग के लिये आगे बढ़ती है, तब अचेतन रूप से एक द्वन्द्व को जन्म देती है। यह द्वन्द्व सामान्य मानव-बुद्धि को इस बात के लिये विवश करता है कि वह दर्शनशास्त्र से सहायता ले। यही बात बुद्धि के सैद्धान्तिक पक्ष के विषय में भी घटित होती है। दूसरे शब्दों में, जब सामान्य बुद्धि पूर्णतः सैद्धान्तिक पक्ष की ओर प्रवृत्त होती है तब भी द्वन्द्व उत्पन्न होता है और दर्शनशास्त्र की आवश्यकता सामान्य बुद्धि अर्थात् हमें पड़ती है।

कांट के विचारानुसार उपर्युक्त द्वन्द्व का समाधान "विशुद्ध व्यावहारिक बुद्धि की मीमांसा" द्वारा ही संभव है और विशुद्ध व्यावहारिक बुद्धि का तार्किक अध्ययन दर्शनशास्त्र में किया जाता है। परिणामस्वरूप सामान्य मानव-बुद्धि अपने व्यावहारिक तथा सैद्धांतिक दोनों ही उपयोगों में, द्वन्द्व से मुक्ति केवल बुद्धि की पूर्ण मीमांसा से ही प्राप्त कर सकती है।

——:o:——

॥ ॐ ॥

द्वितीय अध्याय

लोकप्रिय नैतिक दर्शन से नैतिक आदर्शों की तत्वमीमांसा की ओर गमन

(उदाहरणों का उपयोग)

यदि यहाँ तक हम कर्तव्य के अपने प्रत्यय को अपनी व्यावहारिक बुद्धि के साधारण उपयोग से पा चुके हैं, तो इसके आधार पर यह अनुमान कदापि नहीं लगाना चाहिए कि हमने इसे अनुभव के एक प्रत्यय-अनुभवात्मक प्रत्यय के रूप में वर्णित किया है। इसके विपरीत, जब हम मानव-व्यवहार से सम्बन्धित अपने अनुभव पर ध्यान केन्द्रित करते हैं तब हम ऐसे अनेक उचित आरोपों व अभियोगों से परिचित होते हैं जिनके अनुसार हम ऐसी किसी चेतना (Spirit) का कोई भी निश्चित उदाहरण प्रस्तुत करने में समर्थ नहीं हैं जो चेतना पूर्णत: विशुद्ध कर्तव्य-भावना से प्रेरित होकर कार्य करती हो। इसी तरह यह आरोप भी लगाया जाता है कि यद्यपि अनेक कर्म कर्तव्य के आदेशों के अनुरूप हो सकते हैं, तथापि उनके संबन्ध में यह संदेह बना रहता है कि वे वस्तुत: कर्तव्य के लिये किये गये हैं अथवा नहीं। संक्षेप में, उनके नैतिक मूल्य के सम्बन्ध में हम कोई निश्चित निर्णय नहीं कर पाते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक युग में या समय-समय पर कुछ ऐसे दार्शनिक हुआ करते हैं जो मनुष्य के कार्यों में इस प्रकार की चेतना की उपस्थिति को पूर्णत: अस्वीकार करते हैं। ये दार्शनिक प्रत्येक कर्म का कारण आत्म-रति (Self-lore) के कम या अधिक परिष्कृत स्वरूप को मानते हैं। फिर भी ये लोग नैतिकता के प्रत्यय के औचित्य पर संदेह नहीं करते हैं। वस्तुतः ये लोग मानव-स्वभाव की दुर्बलता तथा अपवित्रता पर पश्चाताप करते हुये उपर्युक्त बात कहते हैं। ये मानते हैं कि मानव अपनी स्वभावगत दुर्बलता से पूर्णत: मुक्त कभी नहीं हो सकता; किन्तु इस मानव-स्वभाव की यह एक विशेषता या

अच्छाई है कि वह एक ऐसे 'निरुपाधिक प्रत्यय' (Idea) को अपने कर्म-नियम (rule) के रूप में स्वीकार करता है जो निरुपाधिक प्रत्यय श्रद्धा करने योग्य है। जहाँ तक इस नियम के पालन करने का प्रश्न है, मानव-स्वभाव उसका पालन करने में असमर्थ है। जिसे बुद्धि को नियम बनाने में मानव की सहायता करनी चाहिए, उस बुद्धि का प्रयोग मानव अपने स्वार्थों तथा इच्छाओं की पूर्ति व सुरक्षा के लिये किया करता है। कभी मानव अपनी छोटी-से-छोटी इच्छा की पूर्ति का प्रयोग इच्छाओं की सामंजस्यपूर्ण समष्टि की संतुष्टि के लिये किया करता है। कई बार मानव किसी विशिष्ट इच्छा की तृप्ति इसलिये नहीं चाहता क्योंकि उसकी दूरदर्शिता यह दर्शाती है कि उसे उस विशेष इच्छा की पूर्ति से जो लाभ होगा, वह अन्य इच्छाओं के समष्टि-गत लाभ की तुलना में अत्यधिक तुच्छ होगा अतः अनेक इच्छाओं की तृप्ति के लिये इस एक इच्छा की अवहेलना करना ही वह श्रेयस्कर समझता है। इस प्रकार हम अपनी बुद्धि का उपयोग अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिये किया करते हैं।

वस्तुतः अनुभव या व्यवहार में ऐसा कोई उदाहरण खोज पाना असंभव है जिसमें कर्म के किसी विषयीगत सिद्धान्त (Maxim) को-जो कि अन्य दृष्टियों से उचित हो—पूर्णतः नैतिक आधारों पर आश्रित कहा जा सके तथा जिसे हम पूर्ण असंदिग्धता के साथ कर्तव्य की भावना पर आधारित घोषित कर सकें। यह सच है कि व्यवहार में कई बार ऐसी स्थिति आती है कि सूक्ष्म आत्म-निरीक्षण करने पर भी हम कर्तव्य की नैतिक प्रेरणा के अतिरिक्त अन्य ऐसी कोई भी प्रेरणा अपने भीतर नहीं पाते हैं, जो इतनी सशक्त हो कि हमें इस या उस शुभ कर्म के लिये अथवा किसी महान त्याग के लिये प्रेरित करे। पर इससे हम निश्चिततापूर्वक यह अनुमान नहीं लगा सकते हैं कि यह प्रेरणा आत्मरति की ही कोई गुप्त प्रवृति नहीं है। यह संभव है कि हम जिसे नैतिक प्रेरणा समझ रहे हैं, वह आत्मरति का ही कोई उत्कृष्ट रूप हो जो कर्तव्य के प्रत्यय के रूप में हमें 'प्रतीत' हो रहा हो। कई बार हमारी प्रेरणा का स्त्रोत् आत्मरति रहती है, किन्तु भ्रमवश हम इस प्रेरणा को कर्तव्य-प्रेरणा समझ बैठते हैं तथा यह झूठा दावा करके व अपनी प्रशंसा करके प्रसन्न होते हैं कि हम एक उच्च प्रेरणा से प्रेरित होकर कर्म कर रहे हैं। इसका मूल कारण यह है कि चाहे हम कितना भी सूक्ष्म आत्म-निरीक्षण क्यों न कर चुके हों, हम कभी भी अपनी गुप्त प्रेरणाओं की तह तक नहीं पहुंच सकते हैं, क्योंकि जब नैतिक मूल्य का प्रश्न उठता है तब हमारा संपर्क

दृश्य कर्मों से न होकर, उनके आन्तरिक सिद्धान्तों से रहता है जिन्हें हम देख नहीं सकते हैं।

दूसरी ओर वे लोग हैं जो संपूर्ण नैतिकता को मानव की कल्पना-शक्ति द्वारा निर्मित प्रेत या कल्पना की उपज कहकर उसका उपहास उड़ाते हैं। इन लोगों को प्रसन्न करने की केवल एक ही विधि है और वह है यह स्वीकार कर लेना कि कर्तव्य के प्रत्ययों को पूर्णतया अनुभव से ही निर्गमित या प्राप्त किया जाना चाहिए। आलस्यवश स्वेच्छा से अन्य प्रत्ययों के संदर्भ में भी हम अपने को यह विश्वास दिलाते हैं कि अन्य सभी प्रत्ययों के विषय में भी यही बात लागू होती है। कांट कहते हैं कि हमारी उपर्युक्त स्वीकृति से ही उनकी विजय संभव है अन्यथा उनकी जीत के अवसर नहीं के बराबर हैं। मानवता-प्रेमी होने के नाते कांट यह स्वीकार करने के लिये उत्सुक हैं कि हमारे अधिकांश कर्म कर्तव्य के अनुरूप हो सकते हैं। पर वे कहते हैं कि जब हम अपने उपायों व प्रयत्नों का सूक्ष्म निरीक्षण करते हैं, तो सर्वत्र ही अपने प्रिय "आत्मा" को पाते हैं। यह आत्मा सदैव ही कर्तव्य के विपरीत रहता है तथा इसी पर हमारे कर्मों का प्रयोजन आधारित रहता है। प्रायः हमारे कर्म कर्तव्य के कठोर आदेश पर आश्रित नहीं होते। स्मरणीय है कि कर्तव्य का कठोर आदेश आत्म-निषेध की अपेक्षा रखता है। सच पूछा जाये तो कोई भी व्यक्ति सद्गुणों का शत्रु नहीं बनना चाहता है अर्थात् खुले रूप से कोई भी व्यक्ति सद्गुणों की आलोचना कभी नहीं करना चाहेगा। किन्तु यह संभव है कि वह एक ऐसा उदासीन निरीक्षक बना रहे जो शुभत्व तथा शुभ-प्राप्ति की जीवन्त इच्छा को अस्वीकार करता हो। ऐसा व्यक्ति आयु के बढ़ने के साथ तथा अनुभव वा निरीक्षण से समृद्ध निर्णयात्मिका शक्ति के कारण इस तथ्य के प्रति संदेहवान् हो जाता है कि इस विश्व में वस्तुतः कोई विशुद्ध सद्गुण है भी या नहीं? जब हमारे मन में इस प्रकार का संदेह जागृत हो जाये तो ऐसी स्थिति में कोई भी चीज हमें अपने कर्तव्य के प्रत्यय से च्युत होने से नहीं बचा सकती और न ही तब कोई वस्तु आत्मा में अन्तर्निहित उस "श्रद्धा" की सुरक्षा ही कर सकती है, जो कर्तव्य के नियम के प्रति हममें पाई जाती है। सद्गुणों के प्रति संदेह तथा नैतिकता के प्रति अनादरभाव रखने से हम तभी बच सकते हैं जब हम दृढ़तापूर्वक यह विश्वास करें कि विशुद्ध नीतिदर्शन हमें "क्या घटित होता है" का ज्ञान न देकर "क्या होना चाहिए" का ज्ञान प्रदान करता है। यह सच है कि समस्त मानवों के समस्त कर्म विशुद्ध स्त्रोतों से निर्गमित नहीं हैं। यह भी माना जा सकता है कि विशुद्ध स्त्रोतों से निर्गमित कर्म पाये

हो नहीं जाते, किन्तु नीतिशास्त्र का विवेच्य या समस्या यह नहीं है कि यह या वह कर्म कैसे "घटित होता है"। इसके विपरीत, नीतिदर्शन की मूल समस्या यह दर्शाना है कि बुद्धि स्वयं अपने आप तथा समस्त आभासों (Appearances) से स्वतंत्र होकर इस बात की आज्ञा देती है कि क्या होना "चाहिए"। जो लोग प्रत्येक चीज को अनुभव पर आधारित मानते हैं, वे उन कर्मों की व्यावहारिकता पर सहज में ही संदेह कर सकते हैं जिन कर्मों का कोई उदाहरण शायद अब तक दुनियाँ में दिखाई नहीं दिया है। पर क्या उदाहरण के अभाव के कारण उन कर्मों की सत्ता तथा महत्ता को अस्वीकार किया जाना उचित है? इसका उत्तर निषेधात्मक होगा; क्योंकि ऐसे अनेक कर्म हैं जिनके उदाहरण प्रस्तुत करना हमारे लिये असंभव है; पर जिन कर्मों को करने का आदेश हमारी बुद्धि निःसदेह देती है और अत्यधिक कठोरतापूर्वक देती है। उदाहरणार्थ—यद्यपि अब तक कोई भी व्यक्ति पूर्णतः सच्चा मित्र नहीं हो सका है; किन्तु मित्रता में विशुद्ध सच्चाई या निष्ठा की अपेक्षा प्रत्येक व्यक्ति से रखी जा सकती है क्योंकि यह एक कर्तव्य है। यह कर्तव्य समस्त-इन्द्रिय अनुभव से परे है। मित्रता में सच्चाई या निष्ठा (loyality) का यह कर्तव्य सामान्य कर्तव्य के रूप में बुद्धि के निरुपाधिक प्रत्यय में अन्तर्निहित रहता है। यह विशुद्ध बुद्धि हमारे संकल्प को प्राक्आनुभविक आधारों द्वारा निर्धारित करती है।

यह जोड़ा जा सकता है कि जब तक हम नैतिकता के प्रत्यय की सत्यता तथा किसी संभाव्य वस्तु से उसके संबंध को अस्वीकार करने की इच्छा नहीं रखते हैं; तब तक हमारे समक्ष नैतिकता संबंधी कोई भी विवाद उपस्थित नहीं हो सकता है। ज्योंही हम नैतिकता के प्रत्यय की सत्यता पर विश्वास करते हैं त्यों ही यह स्पष्ट हो जाता है कि नैतिकता के नियम इतने व्यापक रूप से महत्वपूर्ण हैं कि वे केवल मानवों पर नहीं, वरन् समस्त सामान्य बौद्धिक प्राणियों (Rational being as such) पर लागू होते हैं। तत्क्षण हम यह भी जान लेते हैं कि वे संदिग्ध शर्तों व आशाओं पर आश्रित नहीं हैं; वरन् उनमें परम अनिवार्यता पाई जाती है। इस तरह यह स्पष्ट होता है कि कोई भी इन्द्रिय-अनुभव हमें ऐसा अवसर प्रदान नहीं कर सकता है जिसकी सहायता से हम इन स्वयंसिद्ध (Apodeictic) नियमों की सत्ता तो दूर, 'संभावना' तक का अनुमान लगा सकें। नैतिक नियमों का आधार यदि इन्द्रिय-अनुभव को माना जाये, तो इससे न केवल उनकी पवित्रता, वरन् उनकी सार्वभौमिकता भी खंडित होती है। यदि नैतिकता अनुभव पर आश्रित है अर्थात् वह कई अनुभवात्मक चीज है, तो इसका यही अर्थ

हुआ कि वह मानवता की संदिग्ध शर्तों के अन्तर्गत ही प्रामाणिक है। शर्तों के अन्तर्गत प्रामाणिक ऐसी नैतिकता को कभी भी प्रत्येक बौद्धिक प्राणी के लिये एक सार्वभौमिक नियम के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है। ऐसी नैतिकता कभी भी बौद्धिक प्रकृति अर्थात् बौद्धिक प्राणियों के लिये अपरिमित श्रद्धा का पात्र नहीं हो सकती है इन्द्रियानुभव पर आश्रित नैतिक नियम किसी व्यक्ति-विशेष के संकल्प को निर्धारित करने में समर्थ होते हैं। इस तरह उनमें वैयक्तिकता पाई जाती है, किन्तु सार्वभौमिकता का उनमें पाया जाना नितान्त असंभव है। उनका उद्गम पूर्णतया विशुद्ध किन्तु व्यावहारिक बुद्धि में नहीं रहता अर्थात् उनका स्त्रोत् प्राक्-आनुभविक नहीं होता। यही कारण है कि वे समस्त बौद्धिक प्राणियों के संकल्प को निर्धारित करने वाले सार्वभौमिक नैतिक नियम नहीं माने जा सकते हैं।

जब भी हम उदाहरणों से नैतिकता को प्राप्त करने की या उसकी व्याख्या करने की चेष्टा करते हैं, हम नैतिकता के प्रत्यय को आघात पहुँचाते हैं। नैतिकता का कोई भी उदाहरण जब हमारे सामने प्रस्तुत हो या किया जाये, तो सर्वप्रथम हमें यह निश्चित करना चाहिए कि क्या वह नैतिकता के एक मौलिक उदाहरण के रूप में, दूसरों शब्दों में, एक नमूने (Model) के रूप में प्रयुक्त हो सकता है? जब हम किसी उदाहरण की इस तरह परीक्षा करते हैं, तब हमें ज्ञात होता है कि कोई भी उदाहरण किसी भी तरह नैतिकता के प्रत्यय के लिये प्राथमिक आधार नहीं बन सकता। कांट तो यहाँ तक कहते हैं कि गॉस्पल से "परम पवित्र" (Holy One) या ईसा को पूर्ण पवित्र मानने से पूर्व सर्वप्रथम उसकी तुलना हमें अपने नैतिक पूर्णता के आदर्श से करनी चाहिए। इन पंक्तियों से स्पष्ट होता है कि कांट की दृष्टि में, धर्म नैतिकता पर आधारित होना परमावश्यक है। यदि कोई धर्म नैतिकता पर आधारित न हो, तो उसे "धर्म" की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है। स्वयं यीशु मसीह ने अपने लिये कहा है—"तुम मुझे (जिसे तुम देखते हो) शुभ क्यों कहते हो? क्योंकि यहाँ कुछ भी शुभ नहीं है (अर्थात् शुभ का मूल रूप नहीं है)। जो एक शुभ है वह है ईश्वर, पर उसे तुम नहीं देख सकते हो।" प्रश्न उठता है कि हम सर्वोच्च शुभ के रूप में ईश्वर का प्रत्यय कहाँ पाते हैं? इसका उत्तर यही है कि नैतिकता पूर्णता के प्रत्यय से ही हम ईश्वर का प्रत्यय प्राप्त करते हैं। यहाँ कांट पर पुनः प्लेटो का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। नैतिक पूर्णता के प्रत्यय को बुद्धि प्राक्आनुभविक रूप से निर्मित करती है तथा उसे स्वतन्त्र संकल्प के प्रत्यय के साथ संयुक्त भी करती

है। कांट के मतनुसार, नैतिकता के क्षेत्र में अनुकरण का कोई स्थान नहीं है। जहाँ तक उदाहरणों की महत्ता का प्रश्न है वे केवल हमें प्रोत्साहित करने में ही सहायक होते हैं। वे हमें नैतिकता संबंधी ज्ञान प्रदान नहीं कर सकते। ये उदाहरण नियम द्वारा दी जानेवाली आज्ञाओं की व्यावहारिकता का असंदिग्ध रूप से दर्शाते हैं। नैतिक अथवा व्यावहारिक नियम जिसे अधिक सामान्य तथा अमूर्त रूप में अभिव्यक्त करते हैं, उसे ये उदाहरण दृष्टिगोचर बनाते हैं; मूर्त रूप में प्रस्तुत करते हैं। फिर भी ये कभी भी हमें यह अधिकार नहीं दे सकते कि हम उनके उन वास्तविक मौलिक नियम को अस्वीकार कर दें, जोमौलिक नियम बुद्धि में निवास करता है। कांट मानते हैं कि उदाहरणों की नकल कर नैतिकता का पालन करना अत्यधिक हास्यापद व मूर्खतापूर्ण प्रयत्न है। जब हम उदाहरणों को ही सब कुछ मान बैठते हैं तो हम उसके द्वारा अभिव्यक्त होने वाले उस नैतिक सिद्धान्त की अवहेलना कर जाते हैं जिसके ज्ञान के लिये सदैव हमारी बुद्धि के कड़े श्रम की अपेक्षा रहती है। नैतिकता को उदाहरणों में निहित मानना बहुत बड़ी भूल है। नैतिकता के उदाहरण केवल नैतिकता के मूर्त रूप को हमारे सामने अभिव्यक्त करते हैं। उन्हें दृष्टान्त कहा जा सकता है; किन्तु नियम नहीं।

(लोकप्रिय दर्शन)

यदि नैतिकता का ऐसा कोई भी अद्वितीय सर्वोच्च सिद्धान्त संभव न हो जो समस्त इन्द्रिय-अनुभव से स्वतन्त्र रहते हुये केवल विशुद्ध बुद्धि पर आश्रित हो, तो प्रश्न यह उठाना भी निरर्थक होना चाहिए कि क्या इन प्राक्-आनुभविक प्रत्ययों को, उनके संवादी सिद्धान्तों के साथ सामान्य अथवा अमूर्त रूप में दर्शाना अच्छा है। नैतिकता संबंधी ज्ञान को कांट साधारण ज्ञान से भिन्न मानकर दार्शनिक ज्ञान की श्रेणी में रखते हैं, अतः वे कहते हैं कि सर्वोच्च नैतिक सिद्धान्त की संभावना न मानने पर नैतिकता संबंधी अन्य दार्शनिक प्रश्न भी निरर्थक हो जायेंगे। दूसरी ओर, यह भी सत्य है कि नैतिकता संबंधी दार्शनिक प्रश्न प्रत्येक बुद्धिजीवी में उठते हैं। अतः हमारे लिये इन नैतिक प्रश्नों का उत्तर देना अत्यधिक आवश्यक हो जाता है। कांट कहते हैं कि यदि मतदान किया जाये और इस तथ्य को जानने का प्रयास किया जाये कि प्रत्येक अनुभवात्मक तत्व से रहित विशुद्ध बौद्धिक ज्ञान अर्थात् "नैमिक आदर्शों की तत्वमीमांसा" तथा "लोकप्रिय व्यावहारिक दर्शन" में से लोग किसे प्राथमिकता देंगे, तो हम एक बार में ही यह अनुमान लगा हैं कि किस ओर अधिक मत होंगे।

कांट की दृष्टि में यह निश्चित रूप से अत्यधिक प्रशंसनीय काम है कि जब हम पहिले विशुद्ध बुद्धि के सिद्धान्तों तक ऊपर उठ चुके हैं और अपनी सफलता पर पूर्णतः संतुष्ट हैं, तो अब लोकप्रिय विचारों के स्तर पर उतर आयें। इसको नैतिक आदर्शों की तत्वमीमांसा के पूर्ण ज्ञान की प्रारम्भिक शिक्षा देने वाला नैतिक दर्शन कहा जा सकता है। एक बार नैतिक आदर्शों की तत्व-मीमांसा के स्थापित हो जाने पर, बड़ी सहजता से उसको लोकप्रिय स्वरूप प्रदान कर, हम उसके लिये लोगों की स्वीकृति जीत सकते हैं। किन्तु यह याद रखना चाहिए कि अन्वेषण के प्रथम चरण में ही लोकप्रियता के उद्देश्य को अपना लेना पूर्णतः मूर्खतापूर्ण और अत्यधिक घातक है। इस प्रथम अन्वेषण पर ही हमारे सिद्धान्तों का समस्त संशोधन आश्रित रहता है। लोकप्रियता को महत्व देना इसलिये भी हानिकारक है कि तब हम विचारों की गहनता व गंभी-रता को त्याग कर, केवल यही प्रयास किया करते हैं कि किस तरह लोक-प्रियता प्राप्त की जाये। जो लोकप्रियता गंभीर चिन्तन के आधार पर प्राप्त नहीं की जाती उसे कभी भी 'दार्शनिक लोकप्रियता' नहीं कहा जा सकता। गहन चिन्तन के अभाव में लोकप्रिय व्यावहारिक दर्शन ऐसा जुगुप्सा उत्पन्न करने वाला सम्मिश्रण बनकर रह जाता है जिसमें अधकचरा निरीक्षण भी रहते हैं और अर्द्धबौद्धिक सिद्धान्त भी। इस प्रकार के सम्मिश्रण या खिचड़ी की दावत का उपभोग शून्य मस्तिष्क वाले लोग ही किया करते हैं। दैनिक जीवन की गप्पों व समय बिताने के लिये किये जा रहे वार्तालापों में हमें इसी सम्मिश्रण की झलक दिखाई देती है। साधारण व्यक्ति नैतिकता के संबंध में कभी भी गंभीरतापूर्वक सोचने की चेष्टा नहीं करता। वह नैतिकता संबंधी अपूर्ण या अधकचरा ज्ञान पर चर्चा करके ही संतुष्ट रहता है और अपने को ज्ञानी समझता है। इन शून्य मस्तिष्क वालों के विपरीत हैं अन्तर्दृष्टि वाले व्यक्ति। ये उपर्युक्त अरुचिकर मिश्रण से अपने को भ्रमित अनुभव करते हैं और असंतुष्ट होकर अपनी आंखें फेर लेते हैं। फिर भी ये व्यक्ति अपने इस असंतोष का उपचार करने में असमर्थ हैं। केवलमात्र दार्शनिक ही उनके असंतोष का समाधान करने में समर्थ है क्योंकि दार्शनिक की चिंतनशक्ति इतनी तीक्ष्ण होती है कि वह इस धोखे के पार देख सकती है तथा सत्य का उचित अनुसंधान कर सकती हैं। ये दार्शनिक हमें भावी लोकप्रियता के सपनों में डूबने से रोकते हैं। ये हमारी बात कम सुनते हैं। हमारी बातों पर ये इसलिये ध्यान नहीं देते जिससे कि वे एकाग्र होकर निश्चित अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर सकें तथा अन्तर्दृष्टि प्राप्त करने के पश्चात् ही विशुद्ध रूप से लोकप्रिय होने का अधिकार जीत सकें।

कांट कहते हैं कि हमें केवल उन प्रयत्नों को देखने की आवश्यकता है जो उपर्युक्त विशिष्ट शैली में नैतिकता की चर्चा करते हैं अर्थात् जो प्रयत्न नैतिकता के क्षेत्र में बौद्धिक को अनुभवात्मक से पृथक् किया करते हैं। नैतिकता संबंधी सम्मिश्रित ज्ञान का यदि हम अध्ययन करें तो इस आश्चर्यजनक सम्मिश्रण में कभी तो हमारा मानव-स्वभाव के किसी विशेष गुण से होगा, किन्तु इस विशिष्ट गुण के साथ ही हम उसके एक बौद्धिक प्राणी होने के निरुपाधिक प्रत्यय को भी संलग्न पायेंगे। कभी हमारा सामना पूर्णता से होगा, तो कभी सुख से। इसमें कहीं हमें नैतिक अनुभूति मिलेगी, कहीं ईश्वर का भय। कहने का तात्पर्य है कि इसमें विभिन्न नैतिक मान्यताओं का मिश्रण हमें दिखाई देगा। उदाहरणार्थ—एक नैतिक मान्यता के अनुसार 'पूर्णता-प्राप्ति' ही नैतिकता का चरमोद्देश्य है, तो दूसरी नैतिक मान्यता 'सुख-प्राप्ति' को ही नैतिकता कहती है। परस्पर विरोधी नैतिक मत हमें एक ही जगह इस लोकप्रिय व्यावहारिक दर्शन में प्राप्त हो जाते हैं। साधारण व्यक्ति इस सम्मिश्रण से ही तृप्त हो जाता है। इस सम्मिश्रण से परे जाकर नैतिकता के सर्वोच्च सिद्धान्त की खोज करने का न तो उसे अवकाश ही है न कोई इच्छा। साधारण व्यक्ति ही नहीं वरन् अन्य अनेक लेखक भी इस सम्मिश्रण को स्वीकार करते हैं। उन लेखकों के मन में कभी भी यह प्रश्न नहीं उठता है कि क्या नैतिकता के सिद्धान्तों को पूर्णतः मानव-स्वभाव सम्बन्धी हमारे ज्ञान में ही खोजा जाना चाहिए? न ही कभी यह प्रश्न उनके समक्ष उठता है कि यदि नैतिकता के सिद्धान्तों को मानव-स्वभाव में नहीं खोजा जा सकता; यदि समस्त नैतिक सिद्धान्त पूर्णतः प्राक्-आनुभविक हैं तथा अनुभवात्मक तत्वों से पूर्णतः मुक्त है; यदि नैतिक सिद्धान्तों का स्त्रोत् विशुद्ध बुद्धि के अतिरिक्त अन्य कोई भी चीज नहीं है, तो उन्हें अपने अन्वेषण (enquiry) को विशुद्ध व्यावहारिक दर्शन या नैतिक आदर्शों की तत्वमीमांसा के रूप में उपर्युक्त सम्मिश्रण से पूर्णत. पृथक् करने की योजना बनाना चाहिए। उन्हें 'नैतिक आदर्शों की तत्वमीमांसा' को प्रतिष्ठित करने के लिए जी जान से जुट जाना चाहिए तथा जनता को—जो लोकप्रियता की मांग किया करती है—यह आश्वासन देना चाहिए कि वह उनके प्रयासों के सुखद निष्कर्ष या परिणाम की प्रतीक्षा करें।

तथापि कांट यह स्वीकार करते हैं कि नैतिक आदर्शों की ऐसी पूर्णतया एकान्तिक तत्वमीमांसा जो मानवशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा भौतिकशास्त्र से पूर्णतः अमिश्रित हो; जिस तत्वमीमांसा में रहस्यात्मक गुणों—जिन्हें प्राक्-भौतिक (Hypo-physical) कहा जा सकता है—की चर्चा का समावेश थोड़ा भी न

हो, न केवल कर्त्तव्यों के समस्त सैद्धान्तिक तथा परिभाषित ज्ञान का एक अपरिहार्य अधिष्ठान है; किन्तु साथ ही यह नैतिक कर्म-नियम के वास्तविक निष्पादन के लिये अत्यधिक महत्त्व की अभीष्ट वस्तु का अभाव भी है।

कर्तव्य का विशुद्ध विचार तथा सामान्यतः नैतिक नियम का विचार—जो जोड़े गये अनुभवात्मक प्रलोभनों या अभिप्रेरणाओं के बाह्य तत्वों से अमिश्रित रहता है—केवल बुद्धि के रास्ते से ही मानव-हृदय पर अत्यधिक शक्तिशाली प्रभाव डालने में समर्थ होता है। यह प्रभाव अन्य अनुभवात्मक प्रेरकों के प्रभाव से लाख गुना अधिक सशक्त होता है। बुद्धि को ज्यों-ज्यों अपनी गरिमा की चेतना गहराई से होती है त्यों-त्यों वह अनुभवात्मक प्रेरकों के दबाव से अपने को मुक्त करती जाती है, और एक समय ऐसा आता है जब यह उन पर अधिपत्य जमाकर उनकी शासक हो जाती है। हमें सर्वप्रथम यह जानना चाहिए कि हमारी बुद्धि अपने आप ही व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक, दोनों होने में सक्षम हैं। विशुद्ध नीति-दर्शन के स्थान पर यदि मिश्रित नीति-को लिया जाये अर्थात् ऐसे नीति-दर्शन को लिया जाये जिसमें भावनाओं से उत्पन्न आवेगों के साथ बौद्धिक प्रत्ययों का योग भी रहता है, तो हम यह देखते है कि हमारा मस्तिष्क उन प्रेरणाओं के मध्य निरंतर भटकता रहता है जिन प्रेरणाओं को किसी एक सिद्धान्त के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता है तथा जो प्रेरणायें केवल आकस्मिक रूप से अथवा संयोगवश ही हमें शुभ का निर्देश दे सकती हैं। ये प्रेरणायें अधिकतर हमें अशुभ की ओर ले जा सकती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि इनमें तथा शुभ में कोई अनिवार्य संबंध नहीं होता है और हम व्यर्थ में ही इनमें भटकते रह जाते हैं। इस भटकन से बचने के लिये हमें विशुद्ध नीति-दर्शन के क्षेत्र में प्रवेश करना होगा।

निष्कर्षों का पुर्नानिरीक्षण

उपर्युक्त चिंतन से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं। समस्त नैतिक प्रत्ययों का आधार एवं उद्‌गम पूर्णतया प्राक्-आनुभविक रूप से बुद्धि में है। यह भी सच है कि ये अत्यधिक साधारण मानव-बुद्धि में भी उसी तरह रहते हैं। जिस तरह अत्यधिक उच्च संकल्पनात्मक (Speculative) बुद्धि में। नैतिक प्रत्यय किसी अनुभवात्मक अतः संदिग्ध ज्ञान से प्राप्त नहीं किये जा सकते हैं। अपने उद्‌गम की इस विशुद्धता के कारण ही वे सर्वोच्च व्यावहारिक सिद्धान्तों के रूप में हमारी सहायता करने में सक्षम हैं। इसके अतिरिक्त, उनके उद्‌गम की इस विशुद्धता के कारण प्रत्येक अनुभवात्मक तत्व को उनके अद्वितीय प्रभाव तथा उनके अनुकूल किये जाने वाले कर्मों के परममूल्य से

पृथक् किया जा सकता है। यहाँ पर कांट हमें पुनः सचेत करते हैं कि हमें अ-नैतिक (Non-moral) प्रेरकों को सम्बद्ध कर नैतिक सिद्धान्तों को कलुषित नहीं करना चाहिए। यदि हम ऐसा करते हैं तो हम नैतिक कर्मों के मूल्य अथवा महत्ता को कम करते हैं। उदाहरणार्थ जब हम ईमानदारी का समर्थन श्रेष्ठ "कूटनीति" के रूप में करते हैं, तब हम 'ईमानदारी' को उसके उच्च तथा पवित्र आसन से उतार कर स्वार्थ के क्षेत्र में ले आते हैं। इस तरह 'ईमानदारी' के साथ अनुभवात्मक प्रेरक को संलग्न कर हम उसकी विशुद्धता को कंलकित कर देते हैं। स्मरणीय है कि केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से ही, जहां हमारा संबंध पूर्णतः संकल्पना (Speculation) से रहता है, यह एक अनिवार्य अपेक्षा नहीं है; अपितु इसकी व्यावहारिक महत्ता भी है कि हम नैतिक प्रत्ययों तथा नियमों को विशुद्ध बुद्धि से निर्गमित दर्शायें अर्थात् अनुभवात्मक तत्वों से अमिश्रित दर्शायें, तथा इस संपूर्ण व्यावहारिक किन्तु विशुद्ध बौद्धिक ज्ञान का विस्तार या क्षेत्र निश्चित करें। दूसरे शब्दों में, हमें विशुद्ध व्यावहारिक बुद्धि की संपूर्ण सामर्थ्य अथवा शक्ति को निर्धारित करना चाहिए। हमें कभी भी सिद्धान्तों को मानव-बुद्धि के विशिष्ट स्वभाव पर आश्रित नहीं करना चाहिए। फिर भी संकल्पनात्मक दर्शन (Speculative philosophy) न केवल ऐसा करने की अनुमति देता है, अपितु कई बार ऐसा करना अनिवार्य भी मानता है। कांट कहते हैं कि चूंकि नैतिक नियम प्रत्येक बौद्धिक प्राणी पर लागू होते हैं अतः हमें अपने नैतिक सिद्धान्तों को अनुभवों की अपेक्षा बौद्धिक प्राणी के सामान्य प्रत्यय से निर्गमित करना चाहिए तथा, इसी आधार पर सर्वप्रथम, स्वतंत्र रूप से संपूर्ण नीतिशास्त्र की व्याख्या विशुद्ध दर्शन के रूप में अथवा दूसरे शब्दों में पूर्णतया नैतिक आदर्शों की तत्वमीमांसा के रूप में करना चाहिए। इस प्रकार के पूर्णतः अमूर्त ज्ञान के क्षेत्र में हम यह अच्छी तरह से कर सकते हैं। नीतिशास्त्र मानवशास्त्र (Anthropology) की अपेक्षा केवल इसलिये रखता है कि मानव-व्यवहार में नीतिशास्त्र के सिद्धान्तों का लागू होना दिखाया जा सके। कांट यह नहीं कहते कि नैतिक आदर्शों की तत्वमीमांसा के बिना संकल्पनात्मक निर्णय करने के लिये कर्तव्य के उस नैतिक तत्व का समुचित निर्धारण व्यर्थ है, जो कर्तव्य के अनुरूप किये जाने वाले हर कर्म में होता है। उनके मतानुसार इस प्रकार की तत्वमीमांसा के बिना साधारण और व्यावहारिक प्रयोगों तक में, विशेषतः नैतिक उपदेशों में, नैतिक आदर्शों को उनके विशुद्ध सिद्धान्तों पर आश्रित करना तथा विशुद्ध नैतिक प्रवृत्ति या जन्मजात योग्यता (Disposition) को दर्शाना असंभव है। नैतिक आदर्शों

की तत्वमीमांसा के न होने पर उन्हें मनुष्यों के मस्तिष्क में विश्व के परम कल्याण के लिये रोकना भी असंभव है ।

कांट का विचार है कि हमें अपने इस काम में स्वाभाविक सोपानों से आगे बढ़ना चाहिए । अब तक हम केवल सामान्य नैतिक निर्णय से दार्शनिक निर्णय की ओर बढ़े हैं । इमें लोकप्रिय दर्शन से, जो उदाहरणों की ही सहायता से आगे बढ़ता है तथा उदाहरणों तक ही सीमित रहता है, नैतिक आदर्शों की तत्वमीमांसा की ओर बढ़ना आवश्यक है। आदर्शों की तत्वमीमांसा अपने को कभी भी अनुभवात्मक तत्व द्वारा ग्रसित नहीं होने देती । सच पूछा जाये तो इसका संबंध प्रत्यक्ष रूप से "प्रत्ययों" से रहता है जिन प्रत्ययों तक पहुँचने में उदाहरण असफल रहते हैं । नैतिक आदर्शों की तत्वमीमांसा को प्रत्ययों के ज्ञान की संपूर्ण प्रणाली का सर्वेक्षण करना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये ही हमें व्यावहारिक बुद्धि की सामर्थ्य व शक्ति का अनुसरण, उसके निर्धारण के सामान्य नियमों से लेकर उस बिन्दु तक करना चाहिए जहाँ इससे कर्तव्य का प्रत्यय प्रस्फुटित होता है । इस तरह हमारी स्वाभाविक प्रगति निम्नलिखित तरीके से होना चाहिए । सर्वप्रथम हमें विषयीगत सिद्धान्तों (Maxims) से सोपाधिक वस्तुगत सिद्धान्तों (सापेक्ष आदेशों) की ओर प्रस्थान करना चाहिए । सोपाधिक वस्तुगत सिद्धान्तों पर पहुँच चुकने के पश्चात् उनसे कर्तव्य के निरुपाधिक निरपेक्ष आदेश की ओर बढ़ना चाहिए । हमें विशेषत: संकल्प-स्वातंत्र्य[1] के आदेश की ओर अग्रसर होना चाहिए जो कि स्वतंत्रता[2] के प्रत्यय के लिये मार्ग प्रशस्त करता है।

आदेशों का सामान्य स्वरूप

यह तो हम सभी मानते हैं कि प्रकृति में प्रत्येक चीज नियमों द्वारा संचालित है अथवा नियमों के अनुसार कार्य करती है । केवल बौद्धिक प्राणी में ही यह शक्ति है कि वह नियमों के "निजी अथवा व्यक्तिगत प्रत्यय" के अनुरूप कार्य करने के लिये स्वतंत्र है । तात्पर्य यह है कि वह सिद्धान्तों के ज्ञान के अनुसार कार्य करने की क्षमता रखता है। केवल इसीलिये उसके पास "संकल्प" है। प्राकृतिक घटनायें व वस्तुयें प्राकृतिक नियमों द्वारा नियंत्रित व संचालित अवश्य होती हैं, किन्तु उन्हें इन नियमों का ज्ञान न तो रहता है और न ही हो सकता है । मानव के साथ स्थिति दूसरी है। मानव

१. Autonomy—स्वातंत्र्य
२. Freedom—स्वतंत्रता

को उन सिद्धान्तों का 'ज्ञान' भी रहता है जिसके अनुसार वह कर्म कर रहा है। और चूँकि उसे नियम का ज्ञान या प्रत्यय रहता है अतः वह उसके अनुरूप व प्रतिकूल व्यवहार करने के लिये स्वतंत्र रहता है। विकल्पों में से किसी एक के चयन की उसकी यह विशेषता उसमें 'संकल्प-शक्ति' की द्योतक है। संकल्प, सिद्धान्त के ज्ञान पर आधारित है और ज्ञान प्राप्त करना केवल बुद्धि द्वारा संभव है। इससे सिद्ध होता है कि जहाँ बुद्धितत्व है वहाँ अवश्य ही संकल्प भी होगा। अतः संकल्प-शक्ति केवल बौद्धिक प्राणियों में पाई जाती है। कांट की दृष्टि में, चूँकि नियमों से कर्मों को निगमित करते के लिये बुद्धि की अपेक्षा रहती है अतः संकल्प और कुछ नहीं वरन् व्यावहारिक बुद्धि ही है। यदि यह निगमन "तार्किक निगमन" होता तो इससे हम यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते थे कि संकल्प व्यावहारिक बुद्धि ही है। यदि बुद्धि असंदिग्ध रूप से संकल्प को निर्धारित करती है तो बौद्धिक प्राणी में जो कर्म वस्तुगत दृष्टि से अनिवार्य समझे जाते हैं, वे विषयीगत दृष्टि से भी अनिवार्य होंगे। कहने का तात्पर्य यह है कि जब संकल्प पूर्णतः बुद्धि द्वारा नियंत्रित होता है तब ऐसा संकल्प वह शक्ति होता है जो केवल उसी का चयन करती है जिसे बुद्धि, इच्छाओं से पूर्ण स्वतन्त्र कर व्यावहारिक रूप से अनिवार्य अथवा शुभ समझती है। इसके विपरीत, यदि बुद्धि स्वयं अपने द्वारा संकल्प को निर्धारित करने में पूर्ण समर्थ नहीं है अर्थात् यदि संकल्प उन विषयीगत शर्तों से भी प्रभावित है जो वस्तुगत शर्तों से सदैव सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाती हैं, तब वे कर्म जो वस्तुगत दृष्टि से अनिवार्य माने जाते हैं विषयीगत दृष्टि से संदिग्ध रहते हैं। इस प्रकार के संकल्प का वस्तुगत नियमों के अनुरूप निर्धारण करना हमारे लिये अत्यधिक अनिवार्य काम हो जाता है। संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि जब संकल्प 'बुद्धि' के साथ-ही साथ इन्द्रियानुभव' से भी प्रभावित रहता है—जैसा कि मानव-संकल्प के संबंध में प्रायः ही नहीं, वस्तुतः घटित होता है—तब हमें अपने संकल्प को अनुभव से मुक्त कर, पूर्णतः बुद्धि के अधीन करने की चेष्टा करना चाहिए। कहने का अर्थ यह है कि वस्तुगत नियमों तथा एक ऐसे संकल्प का संबंध, जो संकल्प पूर्णतया शुभ नहीं है, उस संबंध के रूप में समझा जाता है जिसमें किसी बौद्धिक प्राणी का संकल्प बुद्धि के सिद्धान्तों द्वारा निर्धारित होते हुये भी अपने निजी स्वरूप के कारण उन सिद्धान्तों का अनिवार्य रूप से अनुसरण नहीं कर पाता है, वरन् वह अनुसरण करने के लिये बाध्य किया जाता है। किसी वस्तुगत सिद्धान्त का प्रत्ययीकरण, जहाँ तक कि वह सिद्धान्त किसी संकल्प के लिये एक आवश्यकता या बाध्यता है, बुद्धि की 'आज्ञा' कहलाता है

तथा इस आज्ञा को जिस सूत्र में अभिव्यक्त किया जाता है वह आदेश (Imperative) कहलाता है।

समस्त आदेश "चाहिए" शब्द द्वारा अभिव्यक्त किये जाते हैं । इस "चाहिए" शब्द द्वारा ये आदेश उस संबंध की ओर संकेत करते हैं, जो बुद्धि के वस्तुगत नियम तथा ऐसे संकल्प के मध्य पाया जाता है जो संकल्प अपनी विषयीगत संरचना या स्वरूप के कारण बुद्धि के वस्तुगत नियम द्वारा अनिवार्यतः निर्धारित नहीं होता है । इस प्रकार आदेशों से प्रयुक्त "चाहिए" शब्द 'बाध्यता' या कर्तव्यता के संबंध की ओर संकेत करता है । ये आदेश बतलाते हैं कि किसी कार्य को करना अच्छा है अथवा उसे छोड़ देना । ये आदेश अनुभव से प्रभावित संकल्प के लिये होते हैं । कांट कहते हैं कि व्यावहारिक दृष्टि से शुभ वह है जो संकल्प को बुद्धि के प्रत्ययों द्वारा नियंत्रित एवं संचालित करता है। दूसरे शब्दों में, व्यावहारिक दृष्टि से शुभ वह है जो संकल्प को विषयीगत कारणों द्वारा नहीं, किन्तु वस्तुगत रूप प्रभावित करता है । ये आदेश संकल्प को उन आधारों पर कर्म करने के लिये बाध्य करते हैं जो आधार प्रत्येक बौद्धिक प्राणी के लिये समान रूप से प्रामाणिक होते हैं । व्यावहारिक दृष्टि से जो संकल्प शुभ है उसके कर्म इस बात पर निर्भर नहीं करते कि वे किसी अन्य व्यक्ति द्वारा शुभ अथवा श्रेयस्कर बताये जा चुके हैं । यह नहीं समझना चाहिए कि "व्यावहारिक शुभ" से कांट का तात्पर्य सुखकर (Pleasant) से हैं, क्योंकि कांट स्वयं ही व्यावहारिक शुभ तथा सुखकर में भेद करते हैं । उनके मतानुसार सुखकर वह है जो हमारे संकल्प को, प्रत्येक बौद्धिक प्राणी के लिये प्रामाणिक बुद्धि के सिद्धान्त के रूप में प्रभावित न कर, विशुद्ध विषयीगत कारणों द्वारा प्रसूत संवेदना के माध्यम से प्रभावित करता है । ये विषयीगत कारण इस या उस व्यक्ति की इन्द्रियों के लिये प्रामाणिक होते हैं न कि समस्त बौद्धिक प्राणियों के लिये। हम यह पाते हैं कि संवेदना पर इच्छा-शक्ति या संकल्प का आश्रित होना अभिलाषा या प्रवृत्ति कहा जाता है तथा हर प्रवृति या अभिलाषा सदैव किसी आवश्यकता की ओर संकेत करती है । जब कभी संकल्प संदिग्ध रूप से बुद्धि के सिद्धान्तों पर आश्रित रहता है तब इस आश्रितता को 'स्वार्थ' कहकर संबोधित किया जाता है। इस तरह स्वार्थ केवल वहीं पाया जाता है जहाँ संकल्प सदैव बुद्धि के अनुरूप नहीं रहता । दिव्य संकल्प (Holy will) के संदर्भ में हम स्वार्थ की बात नहीं कर सकते क्योंकि दिव्य संकल्प तृष्णाओं, इच्छाओं तथा स्वार्थों आदि से पूर्ण मुक्त रहता है तथा वह 'आप्तकाम' रहता है। कुछ लोग कहते हैं कि मानवीय संकल्प के संदर्भ में भी यह संभव है कि वह स्वार्थ के अनुसार

कर्म न करते हुये भी कर्म में रुचि ले। यदि किसी कर्म में ही रुचि ली जाये तो इसे कर्म में 'व्यावहारिक रुचि' लेना कहते हैं और जब किसी विषय की रुचि से प्रेरित होकर कर्म किया जाये, तो इसे कर्म के विषय में निवारक (Pathological) रुचि लेना कहते हैं। पहिले प्रकार की रुचि बुद्धि के सिद्धान्तों पर संकल्प की पूर्ण आश्रितता की ओर संकेत करती है, जबकि द्वितीय प्रकार की रुचि इस बात की परिचायक है कि हमारा संकल्प स्वार्थ-सिद्धि के लिये ही बुद्धि पर आश्रित है अर्थात् यहाँ बुद्धि स्वार्थ की आवश्यता पूर्ति के लिये ही कोई व्यावहारिक नियम प्रदान प्रदान करती है। ऐसे आदेश सापेक्ष आदेश होते हैं। पहली स्थिति में, हम कर्म में रुचि लेते हैं तथा द्वितीय में कर्म के विषय में। कर्तव्य के लिये किये जाने वाले कर्म करते समय वस्तु में रुचि नहीं ली जानी चाहिए वरन् स्वयं कर्म में तथा कर्म के बौद्धिक सिद्धान्त में रुचि ली जानी चाहिए।

इस तरह एक पूर्णतः शुभ संकल्प भी वस्तुगत नियमों—शुभ के वस्तुगत अन्तर्गत नियमों—के रहता है; पर इस कारण से यह नहीं कहा जा सकता कि ऐसे संकल्प में भी नियम के अनुरूप कार्य करने की "बाध्यता" पाई जाती है। वह इसलिये नहीं कहा जा सकता क्योंकि एक पूर्ण रूप से शुभ संकल्प अपने विषयीगत स्वरूप या संरचना के कारण केवल शुभ के विचार या प्रत्यय द्वारा ही नियंत्रित रहता है। इस प्रकार "दिव्य संकल्प" के लिये या सामान्यतः एक "पवित्र संकल्प" के लिये आदेश नामक कोई चीज नहीं होती अर्थात् उनके लिये कोई नियम आदेश के रूप में प्रस्तुत नहीं होते। इस तरह यहाँ "चाहिए" के लिये स्थान नहीं है। यहाँ "मैं इच्छा करता हूँ", इस संकल्प में तथा वस्तुगत नियम में (संकल्प के स्वरूप में) अनिवार्यरूप से सांमजस्य पाया जाता है। परिणामस्वरूप, 'आदेश' उस संबंध को दर्शानेवाले सूत्रमात्र हैं जो संकल्प के वस्तुगत नियमों तथा इस या उस अर्थात् किसी विशेष बौद्धिक प्राणी के संकल्प की व्यक्तिनिष्ट अपूर्णताओं—उदाहरणार्थ मानवीय संकल्प—के मध्य पाया जाता है। यदि हममें अपूर्णतायें नहीं पाई जातीं; यदि हमारा संकल्प पूर्णतः बुद्धि द्वारा शासित होता, तो नैतिक नियम कभी भी हमें आदेश के रूप में प्रतीत नहीं होते; पर चूँकि हम या 'कर्त्तव्य' निरन्तर स्वार्थ आदि से प्रभावित होते हैं अतः नैतिक नियम हमें 'कर्तव्य' के रूप में प्रतीत होते हैं।

आदेशों का वर्गीकरण

कांट के मतानुसार समस्त आदेश या तो सापेक्ष रूप से अथवा निरपेक्ष

रूप से आज्ञा देते हैं। जो आदेश किसी कर्म को करने की आज्ञा किसी अन्य चीज की सापेक्षता में दिया करते हैं, उन्हें सापेक्ष आदेश कहा जाता है। सापेक्ष आदेश संभाव्य कर्म को किसी अभीष्ट साध्य की प्राप्ति के लिये, साधन के रूप में व्यावहारिक दृष्टि से अनिवार्य घोषित करते हैं। इनसे भिन्न स्वरूप है निरपेक्ष आदेशों का। निरपेक्ष आदेश किसी कर्म को किसी अन्य उद्देश्य की सापेक्षता में नहीं, वरन् अपने आप में वस्तुगत दृष्टि से अनिवार्य सिद्ध करता है।

कांट के विचारानुसार प्रत्येक व्यावहारिक नियम किसी संभाव्य कर्म को शुभ के रूप में प्रस्तुत करता है और इसीलिये ऐसे विषयी या व्यक्ति के लिये अनिवार्य भी दर्शाता है जिसके कर्म बुद्धि द्वारा नियंत्रित होते हैं। इस प्रकार समस्त आदेश, किसी न किसी दृष्टि से 'शुभ' संबोधित किये जाने वाले संकल्प के सिद्धान्त के अनुकूल अनिवार्य कर्मों को नियन्त्रित करने वाले सूत्र हैं। यदि कोई कर्म किसी अन्य चीज या साध्य के लिये पूर्णरूपेण साधन के रूप में ही शुभ है, तब ऐसी स्थिति में आदेश सापेक्ष या सोपाधिक होगा। जब किसी कर्म को साधन के रूप में नहीं, वरन् उसके सिद्धान्त के कारण अपने आप में ही एक ऐसे संकल्प के लिये अनिवार्य बताया जाता है जो संकल्प बुद्धि के अनुरूप कर्म करता है, तब आदेश 'निरपेक्ष आदेश' कहा जाता है।

कोई आदेश हमें यह बताता है कि हमारे संभाव्य कर्मों में से कौन-सा कर्म शुभ होगा। साथ ही, यह ऐसे संकल्प के लिये एक व्यावहारिक नियम का सूत्रीकरण या निर्माण करता है जो संकल्प कर्म को अपने आप में शुभ होंने के कारण नहीं, वरन् अन्य किसी कारणवश प्रतिपादित करता है। कांट एक तथ्य की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि वस्तुतः यह आवश्यक नहीं है कि किसी कर्म को करते समय कर्ता उस कर्म के शुभत्व से भी सदैव परिचित हो। यदि यह मान भी लें कि कर्ता किसी कर्म के शुभत्व से परिचित है तब भी यह संभव है कि वह उन विषयीगत सिद्धान्तों के अनुसार कर्म करे जो व्यावहारिक बुद्धि के वस्तुनिष्ट नियमों के विरोधी हैं।

इस तरह एक सापेक्ष आदेश केवल यह बताता है कि कोई कर्मविशेष किसी "संभाव्य" या "वास्तविक" उद्देश्य या प्रयोजन के किये शुभ है। पहली स्थिति में अर्थात् उद्देश्य के "संभाव्य" होने पर यह आदेश "संदिग्ध व्यावहारिक सिद्धान्त" (Problematic Practical Principle) रहता है। दूसरी स्थिति में अर्थात् उद्देश्य के "वास्तविक" होने पर आदेश "निश्चित व्यावहारिक

सिद्धान्त" (Assertoric Practical Principle) कहलाता है । निरपेक्ष आदेश किसी कर्म को अन्य किसी उद्देश्य के संदर्भ में नहीं, वरन् अपने आप में वस्तुगत दृष्टि से अनिवार्य घोषित करता है । इसे कांट "स्वयंसिद्ध व्यावहारिक सिद्धान्त" (Apodeictic Practical Principle) की श्रेणी में रखते हैं ।

प्रत्येक ऐसी चीज जो केवल किसी बौद्धिक प्राणी के प्रयासों के माध्यम से ही सभव होती है, किसी संकल्प के संभाव्य उद्देश्य के रूप में देखी जा सकती है । और चूँकि संभाव्य उद्देश्य असंख्य हैं परिणामतः कर्म के सिद्धान्त भी असंख्य हैं, क्योंकि कर्म को किसी संभाव्य उद्देश्य की प्राप्ति के लिये अनिवार्य साधन समझा जाता है । जैसा कि हम पहिले ही देख चुके हैं कि प्रत्येक शास्त्र या विज्ञान में एक व्यावहारिक भाग रहता है । प्रत्येक शास्त्र के इस व्यावहारिक भाग के अन्तर्गत संभाव्य उद्देश्य संबंधी समस्यायें तथा वे आदेश आते हैं जो इन संभाव्य उद्देश्यों की प्राप्ति का मार्ग हमें बताते हैं । इस प्रकार के आदेशों को चातुर्य या कौशल (Skill) सम्नबधी आदेश कहा जा सकता है। यहाँ पर साध्य के शुभत्व या बौद्धिकता के संबंध में कोई प्रश्न ही नहीं उठता है । केवल यही विचारणीय रहता है कि साध्य-प्राप्ति के लिये क्या किया जाना चाहिए । इस दृष्टि से देखने पर अपने मरीज को पूर्णतः स्वस्थ करने के लिये एक डॉक्टर द्वारा अपेक्षित नुस्खा और उसकी हत्या करने के लिये एक जहर देने वाले द्वारा अपेक्षित नुस्खा दोनों ही समतुल्य होंगे, यदि वे दोनों अपने-अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में पूर्णतः सफल हों । चूंकि किशोरावस्था में हम यह नहीं जानते कि हमारे जीवन-पथ पर कौन-कौन से उद्देश्य हमारे सामने आ सकते हैं अतः माता-पिता अपने बच्चों को या हमें अनेक प्रकार की वस्तुओं का ज्ञान देने की इच्छा रखते हैं । वे हमें सभी प्रकार के ऐच्छिक साध्यों की प्राप्ति के लिये उपर्युक्त विभिन्न साधनों के प्रयोग का कौशक सिखाते हैं । इन अविहित ऐच्छिक साध्यों के विषय में निश्चित रूप से यह नहीं जानते हैं कि इनमें से कौनसा भविष्य में उनके बच्चे के लिये "वास्तविक" उद्देश्य बनेगा, पर इतना सच है कि वे इस बात की "संभावना" से परिचित रहते हैं कि इनमें से कोई भी उद्देश्य उनका बच्चा अपना सकता है। इस सम्बन्ध में वे आवश्यकता से अधिक चिन्ता किया करते हैं । कई बार अपनी इस चिन्ता के कारण वे अभीष्ट वस्तु के मूल्यांकन सम्बन्धी अपने बच्चों के निर्णयों के निर्माण तथा निर्णयों के संशोधन की अवहेलना कर जाते हैं । बच्चों को अपने निर्णय लेने के लिये उत्साहित करने के स्थान पर, वे अपने हो निर्णय उन पर आरोपित करने लगते हैं ।

कांट कहते हैं कि फिर भी एक साध्य ऐसा है जिसे समस्त बौद्धिक प्राणियों के लिये "वास्तविक" माना जा सकता है। पर इस साध्य को उसी सीमा तक "वास्तविक" साध्य स्वीकार किया जा सकता है, जहाँ तक कि हम बौद्धिक प्राणी को ऐसा परतन्त्र प्राणी मानते हैं जिन पर आदेश लागू किये जाते हैं। एक स्वाभाविक आवश्यकता के कारण प्रत्येक बौद्धिक प्राणी के लिये एक साध्य "वास्तविक" रहता है। इस बहुचर्चित साध्य को हम "सुख" कहकर संबोधित करते हैं। जो सापेक्ष आदेश सुख-प्राप्ति या सुख-वृद्धि के साधन से रूप में किसी कर्म की व्यावहारिक अनिवार्यता स्वीकार करता है, वह "निश्चित व्यावहारिक सिद्धान्त" के वर्ग में आता है क्योंकि, जैसा कि हमने जाना, सुख कोई संभाव्य अथवा अनिश्चित उद्देश्य नहीं है। सुख ऐसा साध्य या उद्देश्य है जिसकी पूर्व कल्पना हम पूर्ण निश्चितता के साथ प्राक्-आनुभविक रूप से कर सकते हैं; क्योंकि यह मानव-सत्ता के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। कांट कहते हैं कि अपने व्यक्तिगत परमकल्याण की प्राप्ति के लिये उपर्युक्त साधनों के चयन के चातुर्य या कौशल को सर्वाधिक संकुचित अर्थ में "दूरदर्शिता" कहा जा सकता है। "सर्वाधिक संकुचित अर्थ में" उन्होंने इसलिये लिखा है क्योंकि दूरदर्शिता (Klugheit=prudence) शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है। एक अर्थ में इसे दुनियादारी" Worldly wisdom) या व्यावहारिक विवेक नाम दिया जा सकता है। दूसरे अर्थ में इसे "वैयक्तिक विवेक" कहा जा सकता है। पहिले प्रकार का चातुर्य वह है जिसके द्वारा कोई व्यक्ति अन्य व्यक्तियों को प्रभावित कर, उसका उपयोग अपने निजी साध्यों की प्राप्ति के लिये किया करता है। दूसरे प्रकार का चातुर्य इन समस्त साध्यों को अपने निजी स्थायी लाभ के लिये सम्बद्ध करने में है। द्वितीय प्रकार का चातुर्य मुख्यतः वह है जिसमें पहिले प्रकार के चातुर्य का समावेश रहता है। यदि कोई व्यक्ति दूसरे अर्थ में नहीं, अपितु केवल पहिले अर्थ में दूरदर्शी हो तो उसे कार्यकुशल तथा दक्ष कहना ज्यादा उपर्युक्त है, पर समग्र दृष्टि से देखने पर वह "अदूरदर्शी" ही माना जायेगा। इस तरह जो आदेश किसी व्यक्ति के सुख के साधनों के चयन से सम्बन्धित रहता है वह दूरदर्शिता का एक नियम होने के कारण वह भी "सापेक्ष" आदेश ही रहता है। इसे कांट ने सापेक्ष इसलिये माना है, क्योंकि इसमें किसी कर्म को करने की आज्ञा निरपेक्ष में न दी जाकर किसी अन्य उद्देश्य की प्राप्ति के साधन के रूप में दी जाती हैं।

अन्त में, एक आदेश ऐसा भी है जो किसी आचरण को संपादित करने

की आज्ञा, अन्य किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिये न देकर इस आचरण को ही तत्क्षण करने के लिये देता है। ऐसा आदेश "निरपेक्ष आदेश" होता है। यह न तो कर्म की सामग्री से सम्बन्धित रहता है और न ही उसके अपेक्षित परिणामों से। इसके विपरीत यह कर्म के रूप (form) तथा कर्म के उस सिद्धांत से सम्बन्धित रहता है जिससे कि वह कर्म निर्गमित हुआ है। गीता के समान कांट भी यह स्वीकार करते हैं कि कर्म जो शुभत्व दिखाई देता है, वह मानसिक भावना या मनोवृत्ति में निहित रहता है। अतः कर्म का परिणाम चाहे अच्छा निकले अथवा बुरा, उससे कर्म के शुभाशुभत्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। निरपेक्ष आदेश को "नैतिकता का आदेश" भी कहा जा सकता है।

सिद्धान्त के उपर्युक्त तीन प्रकार के अनुसार संकल्प की बाध्यता में भी असमानता पाई जाती है। इस असमानता का स्पष्ट उल्लेख करने के लिये कांट क्रमानुसार इनका पृथक्-पृथक् नामकरण करते हैं। कांट ने पहिले प्रकार के आदेशों को "चातुर्य के वैयाक्तिक कर्म—नियम[1] कहकर संबोधिक किया है। दूसरे प्रकार के आदेशों को "दूरदर्शिता के परामर्श"[2] कहा है तथा तीसरे प्रकार के आदेशों को "नैतिकता की आज्ञायें या सार्वभौमिक नियम"[3] नाम दिया है। केवल सार्वभौमिक नियम के संदर्भ में ही निरपेक्ष, तथा वस्तुनिष्ठ, और वस्तुनिष्ठ होने के कारण सार्वभौमिक रूप से प्रामाणिक, "अनिवार्यता" की चर्चा की जा सकती है। नैतिक आज्ञायें वे सार्वभौमिक नियम (Laws) है जिनका पालन किया जाना चाहिए अर्थात् जिनका अनुसरण इच्छा न होने पर भी किया जाना चाहिए। यह ठीक है कि दूरदर्शिता के परामर्शों में भी अनिवार्यता का तत्व पाया जाता है, किन्तु परामर्शों की अनिवार्यता व नैतिक आदेशों की अनिवार्यता में भेद है। परामर्श की अनिवार्यता केवल कुछ विषयीगत तथा संदिग्ध स्थितियों व उपाधियों के अन्तर्गत ही प्रामाणिक रहती है। उदाहरणार्थ, वह इस बात पर आश्रित रहती है कि कौन व्यक्ति किस चीज में अपना सुख पाता है। इसके विपरीत, एक निरपेक्ष आदेश किसी भी उपाधि से सीमित नहीं रहता तथा अंतिम रूप से अनिवार्य होने क कारण इसे संक्षेप में 'आज्ञा' कहा जा सकता है। कांट ने

1. Rules of Skill.
2. Counsels of Prudence.
3. Commands (Laws) of Morality.

उपर्युक्त तीन प्रकार के आदेशों को और नाम दिये हैं। जैसे उन्होंने पहिले प्रकार के आदेशों को "तकनीकी"[1] (कला से संबंधित) कहा है। तो दूसरे प्रकार के आदेशों को "उपयोगी"[2] (समृद्धि से संबंधित) तथा तीसरे प्रकार के आदेशों को "नैतिक" (स्वतंत्र आचरण अथवा नैतिक आदर्शों से संबंधित) कहा है।

आदेश कैसे संभव होते हैं ?

अब तक यह प्रश्न उठता है कि उपर्युक्त सभी आदेश किस तरह संभव हैं? इस प्रश्न का तात्पर्य यह पूछना नहीं है कि हम कैसे किसी आदेश द्वारा निर्देशित कर्म के निष्पादन को समझ सकते हैं? इस प्रश्न द्वारा हम यह जानना चाहते हैं कि किसी आदेश द्वारा अभिव्यक्त संकल्प की बाध्यता को हम कैसे जान सकते हैं? चातुर्य का आदेश कैसे संभव है, इस विषय पर विशेष चर्चा करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। वह इसलिये कि जो व्यक्ति किसी विशिष्ट साध्य की इच्छा रखता है, वह उस साध्य की प्राप्ति के साधनों को भी इच्छा रखता है। जहाँ तक संकल्प का संबंध है उपर्युक्त तर्कवाक्य (Proposition) विश्लेषणात्मक है, क्योंकि जब हम किसी वस्तु की इच्छा कर्म-फल के रूप में रखते हैं, तो इस इच्छा कहने में ही हम स्वयं एक कार्यकारी कारण के रूप में साधनों के प्रयोग के संबंध में अपनी कारणता को पाते हैं। यहाँ आदेश अभीष्ट साध्य के प्रत्यय में से इस साध्य के लिये अनिवार्य 'कर्मों के प्रत्यय' मात्र को पृथक् करता है। कांट के उपर्युक्त कथन को समझने के लिये कांट द्वारा किये गये संश्लेषणात्मक तथा विश्लेषणात्मक तर्कवाक्यों के विभेद को समझ लेना चाहिए। विश्लेषणात्मक तर्कवाक्य वह तर्कवाक्य हैं, जिसमें विधेय उद्देश्य-प्रत्यय में निहित रहता है तथा उद्देश्य-प्रत्यय के विश्लेषण द्वारा वह उससे निर्गमित (Derived) किया जा सकता है। इस तरह "प्रत्येक परिणाम का कोई कारण अवश्य होना चाहिए", यह कथन विश्लेषणात्मक तर्कवाक्य है, क्योंकि किसी परिणाम को बिना उसके कारण के 'देखना' ही असंभव नहीं, वरन् बिना कारण के परिणाम की 'कल्पना करना' भी असंभव हैं। इस तरह किसी विश्लेषणात्मक तर्कवाक्य के पुष्टीकरण के लिये हमें उद्देश्य (Subject) के प्रत्यय के परे जाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। संश्लेषणात्मक तर्कवाक्य में विधेय-प्रत्यय, उद्देश्य-प्रत्यय में निहित नहीं रहता अतः उद्देश्य के प्रत्यय का विश्लेषण

1. Technical.
2. Pragmatic.

कर हम विधेय को प्राप्त नहीं कर सकते । उदाहरणार्थ "प्रत्येक घटना का कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए," यह संश्लेषणात्मक तर्कवाक्य है, क्योंकि यह संभव है कि हम किसी घटना को देखे बिना यह देख लें कि उसका कोई कारण है । किसी संश्लेषणात्मक वाक्य को पुष्ट अथवा प्रमाणित करने के लिये हमें उद्देश्य के प्रत्यय से परे जाना होगा तथा ऐसे किसी तृतीय प्रत्यय या 'मध्यस्थ प्रत्यय' को खोजना होगा जिसकी सहायता से हम विधेय को उद्देश्य से संबन्धित कर सकें । (इसी तथ्य के कारण कांट यह कहते हैं कि संश्लेषणात्मक तर्कवाक्यों की आवश्यकता किसी अभीष्ट साध्य के लिये साधनों के निर्धारण के लिये हुआ करती है, किन्तु इसका संबंध संकल्प प्रेरित कर्म करने के हेतु (reason) से न होकर, उस कारण से होता है जो वस्तु को उत्पन्न करता है ।) कांट की दृष्टि में गणितात्मक तर्कवाक्य संश्लेषणात्मक होते हैं । इसके विपरीत यह वाक्य कि "जो बौद्धिक कर्ता अभीष्ट साध्य की प्राप्ति का संकल्प करता है, वह अनिवार्यतः उस साध्य-प्राप्ति के साधन का भी संकल्प करना है "एक विश्लेषणात्मक तर्कवाक्य है, क्योंकि किसी साध्य की इच्छा करने का अर्थ है उस कर्म को करने का संकल्प, जो उस साध्य-प्राप्ति का साधन है । अतः यदि कोई साध्य हमारा अभीष्ट होता है तो उस साध्य-प्राप्ति का साधन भी अभीष्ट होना चाहिए । पर यहाँ यह स्मरणीय है कि अभीष्ट साध्य-प्राप्ति हेतु उपयुक्त साधनों का जानने के लिये हम संश्लेषणात्मक तर्कवाक्यों का प्रयोग करते हैं । हमें यह खोजना होता है कि कौन-से कारण निश्चित अभीष्ट परिणामों (effects) को उत्पन्न करेंगे । केवल परिणाम के प्रत्यय के विश्लेषण द्वारा उस परिणाम के साधक कारण को खोज पाना असंभव है । फिर भी संश्लेषणात्मक तर्कवाक्य केवल सैद्धान्तिक हैं । जब हम यह जानते हैं कि कौन-सा कारण अभीष्ट परिणाम को उत्पन्न करेगा, तब बौद्धिक प्राणी के रूप में हमारे संकल्प को निर्धारित व प्रभावित करनेवाला सिद्धान्त विश्लेषणात्मक तर्कवाक्य ही होता है । इस विश्लेषणात्मक का स्वरूप यह होता है कि साध्य के लिये संकल्प करने वाला कोई भी पूर्णतः बौद्धिक कर्ता अनिवार्यतः उक्त साध्य-प्राप्ति के ज्ञात साधन के लिये भी संकल्प या इच्छा करता है । इस तरह चातुर्य के आदेशों के पुष्टीकरण (Justification) में कोई कठिनाई नहीं होती ।

इसके बाद आते हैं दूरदर्शिता के आदेश । इस संदर्भ में कांट यह कहते हैं कि यदि सुख का प्रत्यय एक निश्चित प्रत्यय होता, तो इन आदेशों के संबंध में भी वही बातें लागू होतीं जो चातुर्य के आदेशों के संदर्भ में सत्य

हैं। तब ये आदेश भी विश्लेषणात्मक तर्कवाक्य होते। तब यहाँ भी वही कहा जा सकता था कि जो साध्य (सुख) की इच्छा रखता है, वह अनिवार्यतः सामर्थ्यानुसार साधन की भी इच्छा करता है। किन्तु दुर्भाग्यवश सुख का प्रत्यय इतना अनिश्चित है कि यद्यपि प्रत्येक मनुष्य सुख प्राप्त करना चाहता है तथापि कोई भी मनुष्य कभी निश्चित रूप से यह नहीं बता सकता कि वह सुख किसे कहता है, या सुख के नाम पर वह क्या चाहता है, या सुख क्या है ? इसका कारण यह है कि सुख के प्रत्यय से संबंधित सभी तत्व, बिना किसी अपवाद के, अनुभवात्मक हैं अर्थात् वे सभी अनुभव से लिये जाना चाहिए। सामान्यतः सुख के विचार के अन्तर्गत हम अलग-अलग अनुभवात्मक तत्वों की चर्चा न करके, वर्तमान तथा भविष्य में प्राप्त अधिकतम या संपूर्ण समृद्धि की चर्चा करते हैं अर्थात् सुख के विचार को एक "अपरिमित पूर्ण" का विचार माना जाता है। कांट कहते हैं कि मानव जैसे ससीम प्राणी के लिये, चाहे वह कितना भी बुद्धिमान और शक्तिमान क्यों न हो, सुख के निश्चित प्रत्यय को रूप देना असंभव है। मनुष्य यह नहीं बता सकता कि किस चीज में उसका सुख निहित है। क्या मनुष्य या हम धन चाहते हैं ? पर धन की इच्छा करने पर तो मनुष्य अनेक चिन्ताओं, राग-द्वेषों, असंतोष आदि से त्रस्त हो जाता है। तब क्या मानव का सुख ज्ञान-प्राप्ति या अन्तर्दृष्टि की प्राप्ति में है ? पर हम यह भी जानते हैं कि ज्ञान और अन्तर्दृष्टि प्राप्त होने पर उसे वे बुराईयाँ भी दिखाई देने लगती हैं जिन्हें पहिले वह नहीं देख पाता था। इन भयंकर बुराईयों व पापों का ज्ञान हो जाने पर उसकी स्थिति और भी दयनीय हो जाती है। तो क्या मानव दीर्घायु चाहता है ? पर इस बात की क्या गारंटी कि दीर्घायु पीड़ादायी नहीं होगी ? इस तरह हम पाते हैं कि मानव के पास ऐसा कोई भी सिद्धान्त नहीं है जिसके द्वारा वह पूर्ण निश्चितता से यह निर्णय कर सकें कि क्या चीज़ उसे वस्तुतः सुख बनायेगी। अपने सुख का निश्चित प्रत्यय बनाने के लिये मनुष्य को 'सर्वज्ञ' होना पड़ेगा किन्तु मानव सर्वज्ञ नहीं हो सकता। इससे निष्कर्ष निकलता है कि सुखी होने के लिये मह किन्हीं निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार कर्म नहीं कर सकते। सुख-प्रप्ति के लिये हम प्राय: अनुभवात्मक परामर्शों के अनुसार कर्म करते हैं। उदाहरणार्थ धन संबंधी, सुविधा संबंधी, पद व प्रशंसा संबंधी, स्वास्थ संबंधी इत्यादि। अनेक अनुभवात्मक परामर्शों की सहायता हम सुख की खोज करते समय लेते हैं। कई बार मनुष्य किसी एक अनुभवात्मक परामर्श को ही सुख-प्राप्ति का आधार मान बैठता है। जैसे कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनके लिये 'पैसा ही

मुख रहता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि दूरदर्शिता के आदेश वस्तुत: कभी "आज्ञा" नहीं देते अर्थात वे वस्तुनिष्ठ रूप से कर्मों को व्यावहारिक दृष्टि से अनिवार्य नहीं दर्शाते। उन्हें बुद्धि की आज्ञायें मानने की अपेक्षा "संस्तुतियां" (Recommendations) मानना ज्यादा उपयुक्त है। हमारे सामने एक महत्वपूर्ण समस्या उस कर्म का निर्धारण करने की रहती है, जो कर्म किसी बौद्धिक प्राणी के सुख की वृद्धि करेगा, किन्तु निश्चित व सार्वभौमिक रूप से इस समस्या का समाधान करना पूर्णतः असंभव है। परिणामस्वरूप सच्चे अर्थ में कोई भी ऐसा आदेश संभव नहीं है, जो हमें सुख देनेवाले कर्म को करने की "आज्ञा" दे सके। इसका कारण यह है कि "सुख" बुद्धि का एक आदर्श न होकर, हमारी कल्पना का आदर्श या कल्पना की उपज है। यह एक ऐसा आदर्श है जो केवल अनुभवात्मक आधारों पर टिका हुआ है तथा इन अनुभवात्मक आधारों के विषय में यह आशा करना व्यर्थ है कि उन्हें किसी ऐसे कर्म का निर्धारण करना चाहिए जिसके द्वारा हम परिणामों की श्रृंखला का कुलयोग प्राप्त कर सकें; क्योंकि यह श्रृंखला वस्तुत: असीम है। असीम होने के कारण अनुभव द्वारा इसका ज्ञान प्राप्त करना असंभव है। तथापि, यदि हम यह माने कि सुख के साधन को निश्चितता के साथ खोजा जा सकता है, तो दूरदर्शिता का यह आदेश एक विश्लेषणात्मक व्यावहारिक तर्कवाक्य होगा। इसमें और चातुर्य के आदेश में केवल यह भेद है कि इसमें साध्य केवल 'संभाव्य' है जबकि चातुर्य के आदेश में साध्य "प्रदत्त" (given) अर्थात् एक तथ्य रहता है। इस भेद के होने पर भी दोनों प्रकार के आदेश विश्लेषणात्मक इसलिये हैं कि दोनों में साध्य-प्राप्ति के साधन के विषय में आज्ञा दी जाती है। इस तरह दूरदर्शिता के आदेश की संभावना में भी कोई कठिनाई नहीं है।

"नैतिकता के आदेश" के संबंध में उपर्युक्त बातें लागू नहीं होतीं, अत: इस आदेश के पुष्टीकरण की समस्या अत्यधिक महत्वपूर्ण है। यह आदेश किसी भी तरह सापेक्ष (Hypothetical) नहीं है। "चातुर्य के आदेश" तथा "दूरदर्शिता के आदेश" सापेक्ष आदेश हैं। चूँकि नैतिक आदेश सापेक्ष नहीं होता, परिणामस्वरूप हम किसी परिकल्पना पर उस वस्तुनिष्ठ अनिवार्यता को आश्रित नहीं कर सकते जिसको ये प्रमाणित करता है। हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि हम इस समस्या का समाधान किसी उदाहरण द्वारा संभव नहीं है अर्थात् अनुभवात्मक रूप से इसका समाधान करना असंभव है। हमें इस बात का भी सदैव ध्यान रखना चाहिए कि वे समस्त आदेश जो

निरपेक्ष "प्रतीत" होते हैं, वस्तुतः वे सापेक्ष भी हो सकते हैं। उदाहरणार्थ एक उक्ति लीजिए—"तुम्हें झूठे वायदे नहीं करना चाहिए"। यह मान लीजिए कि इस निषेध की अनिवार्यता किसी भावी बुराई के निराकरण के लिए एक उपाय मात्र नहीं है। यदि उपायमात्र होती तो यह कहा जा सकता था कि "तुम्हें झूठे वायदे नहीं करना चाहिए अन्यथा जब तुम्हारी झूठे वायदे करने की आदत प्रकाश में आयेगी तो तुम्हारी साख समाप्त हो जायेगी।" इसके विपरीत, यदि हम यह मानें कि उपर्युक्त कर्म—झूठे वायदे करना—अपने आपमें अशुभ या बुरा समझा जाना चाहिए, तो ऐसी स्थिति में प्रतिषेध का उपर्युक्त आदेश 'निरपेक्ष आदेश' कहलाता है। इतना होने पर भी हम पूर्ण निश्चितता से किसी उदाहरण द्वारा यह नहीं दर्शा सकते कि यहाँ संकल्प किसी अन्य प्रेरक द्वारा संचालित न होकर, पूर्णतः एक सार्वभौमिक नियम द्वारा संचालित है। ऐसा इसलिए असंभव है क्योंकि इस बात की संभावना सदैव बनी रहती है कि निरपेक्ष प्रतीत होने वाले कर्म के पीछे कोई प्रच्छन्न अनुभवात्मक प्रेरक हो। उदाहरणार्थ यह संभव है कि "झूठे वायदे न करने" के कर्म के पीछे अपमान का भय हो या अन्य खतरों का भय हो, जो हमारे संकल्प को अचेतन रूप से प्रभावित कर रहा हो। अनुभव द्वारा कोई भी यह सिद्ध नहीं कर सकता कि कर्म का कारण विद्यमान नहीं है। अनुभव केवल यह बताता है कि यह कारण दृश्य नहीं है। तथापि, ऐसी स्थिति में, निरपेक्ष तथा निरुपाधिक प्रतीत होने वाले तथाकथित नैतिक आदेश वस्तुतः केवल ऐसे उपयोगी (pragmatic) नुस्खे होंगे जो हमारा ध्यान हमारे लाभ की ओर खींचते हैं।

अब चूँकि अनुभव में निरपेक्ष आदेश की सत्ता हम नहीं पाते, अतः अनुभव द्वारा इसकी संभावना को स्थापित नहीं कर सकते। यही कारण है कि हमें निरपेक्ष आदेश की संभावना का अन्वेषण पूर्णतः प्राक् आनुभविक रूप से करना होगा। हमें केवल यह नहीं दर्शाना कि निरपेक्ष आदेश "कैसे" संभव है, वरन् यह भी दिखाना होगा कि "वह संभव है"। थोड़े समय के लिये यह देखा जा सकता है कि केवल निरपेक्ष आदेश ही व्यावहारिक सार्वभौमिक नियम (Law) हैं जबकि अन्य आदेशों को संकल्प के सिद्धान्त (Principles) कहा जा सकता है, व्यावहारिक नियम नहीं। इन्हें व्यावहारिक सार्वभौमिक नियम इसलिये नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यदि कोई कर्म किसी ऐच्छिक, मनमाने या वैयक्तिक उद्देश्य के लिये अनिवार्य है तो वह अपने आप में संदिग्ध" समझा जा सकता है। यह 'संदिग्ध' इसलिये रहता है कि यदि

हम उद्देश्य को ही त्याग दें। तो उस कर्म के अनुभवात्मक अधिनियम (Precept) का पालन करने की कोई बाध्यता हमारे लिये शेष नहीं रह जाती। इसके विपरीत स्थिति "निरपेक्ष आज्ञा" की है। निरपेक्ष आदेश हमारे संकल्प को आज्ञा के विरुद्ध कर्म करने की स्वच्छन्दता प्रदान नहीं करता। अतः केवल निरपेक्ष आदेश में वह अनिवार्यता पाई जाती है जिसकी हमें किसी सार्वभौमिक नियम से अपेक्षा रहती है। नैतिक आदेश के संबंध में यह स्मरणीय है कि जब यह नैतिक कर्तव्य का आदेश देता है, तो उस आदेश की अभिव्यक्ति का रूप होता है—"मुझे अमुक कर्म करना चाहिए"। इस तरह यह आदेश अभीष्ट साध्य की परिकल्पना पर आश्रित नहीं रहता। निरपेक्ष आदेश को प्रमाणित करने के लिये हमें केवल यह दर्शाना होगा कि एक पूर्णतः बौद्धिक कर्ता अनिवार्य रूप से अमुक प्रकार से कर्म करेगा। वह कोई कर्म किसी साध्य के प्रलोभन में आकर नहीं वरन् बौद्धिक कर्ता होने के कारण करेगा।

कांट ने निरपेक्ष आदेश अथवा नैतिकता के सार्वभौमिक नियम के साथ जुड़ी हुई एक और गंभीर कठिनाई का उल्लेख किया है। वह कठिनाई यह है कि निरपेक्ष आदेश "संश्लेषणात्मक प्राक्-आनुभविक व्यावहारिक तर्क-वाक्य" होते हैं। संश्लेषणात्मक प्राक् आनुभविक तर्कवाक्यों को प्रमाणित करना अथवा उनकी संभावना दर्शाना सैद्धान्तिक ज्ञान के क्षेत्र में ही एक जटिल समस्या है, अतः व्यावहारिक ज्ञान के क्षेत्र में भी वह कुछ कम कठिन नहीं है। नैतिक आदेश संश्लेषणात्मक प्राक्आनुभविक तर्कवाक्य है। यह "संश्लेषणात्मक" इसलिये कहा गया है क्योंकि इसमें उद्देश्य (Subject) अर्थात् बौद्धिक कर्ता के प्रत्यय में विधेय-प्रत्यय निहित नहीं हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि हम "बौद्धिक कर्ता" के प्रत्यय का विश्लेषण करें, तो हम "नैतिक कर्तव्य" नामक विधेय को उसमें नहीं पा सकते। यह 'प्राक्आनुभविक" इसलिये है, क्योंकि यह समस्त बौद्धिक कर्ताओं के उस कर्म के विषय में कथन (assertion) है जो वे "अनिवार्य रूप से" करेंगे। ऐसा कथन कभी भी उदाहरणों के अनुभव द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता; न ही इस संदर्भ में हम कभी यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि हमें ऐसा अनुभव हुआ है।

सार्वभौमिक नियम का सूत्र

इस काम में सर्वप्रथम हम यह जानने की इच्छा करते हैं कि क्या निरपेक्ष

आदेश के प्रत्यय मात्र से हमें वह सूत्र नहीं मिल सकता, जिसमें केवल एक तर्कवाक्य हो तथा वह तर्कवाक्य एक निरपेक्ष आदेश हो सके। कांट के कहने का तात्पर्य यह है कि हमारी पहली समस्या निरपेक्ष आदेश के सूत्रीकरण या सूत्र रूप में वर्णन की है। हमारी समस्या यह बताने की है कि निरपेक्ष आदेश क्या आज्ञा देता है।

एक सापेक्ष आदेश के विषय में हम पहिले से ही यह नहीं जान पाते कि इसमें क्या निहित होगा। किसी सापेक्ष आदेश में क्या निहित होगा यह हम तभी जान पाते हैं जब हम उसकी शर्त या उपाधि से परिचित होते हैं। इसके विपरीत, एक निरपेक्ष आदेश का ज्ञान होते ही हम तत्काल यह भी जान जाते हैं कि इसमें क्या निहित है। जैसा कि पहिले ही देख चुके हैं कि निरपेक्ष आदेश हमें केवल सार्वभौमिक नियम के अनुरूप कर्म करने की आज्ञा देता है अर्थात् यह केवल उस सिद्धान्तानुसार कर्म करने की आज्ञा हमें देता है जो समस्त बौद्धिक प्राणियों के लिये प्रामाणिक है। चूंकि इसके अतिरिक्त यह अन्य कुछ नहीं कहता अतः इसमें निहित तत्व को हम तत्काल जान लेते हैं। यदि यह उस सिद्धान्तानुसार हमें कर्म करने की आज्ञा देता होता जो सिद्धान्त किसी अन्य साध्य की कामना रखने पर ही हम पर लागू हो सकता है, तो हम तात्कालिक रूप से कभी भी यह नहीं जान पाते हैं कि इसमें क्या निहित है? निरपेक्ष आदेश में सदैव यह अनिवार्यता पाई जाती है कि हमारा भौतिक (material) विषयीगत सिद्धान्त सार्वभौमिक वस्तुगत नियम के समरूप होना चाहिए। और चूंकि, सार्वभौमिक नियम में कोई शर्त नहीं होती जो उसे सीमित करे अतः व्यक्तिगत नियम के लिये सार्वभौमिक नियम की सार्वभौमिकता के अनुरूप होने के अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं रहता। केवल यह समरूपता ही है जिसे निरपेक्ष आदेश अनिवार्य मानता है।

इस तरह केवल एक ही निरपेक्ष आदेश है तथा वह निम्नलिखित है:

"केवल उसी विषयीगत सिद्धान्त के आधार पर कर्म करो जिसके माध्यम से तुम उसी समय अर्थात् तत्काल यह इच्छा या संकल्प कर सकते हो कि वह एक सार्वभौमिक या आकारिक नियम बनना चाहिए।"

इस संदर्भ में, कांट के नीतिशास्त्र को आंग्ल भाषा के माध्यम से प्रस्तुत करने वाले पेटन महोदय अपनी टिप्पणियों में लिखते हैं कि उपर्युक्त तर्क-वाक्य द्वारा शायद कांट वैषयिक या भौतिक (Material) तथा आकारिक (Formal) नियमों के अन्तर्वेशन (Interpenetration) पर ज़ोर देना चाहते

हैं। किसी वैषयिक या नैतिक नियम के अनुरूप इच्छा या संकल्प करने में हम उसी समय यह इच्छा भी करते हैं कि यह वैषयिक नियम एक सार्वभौमिक (आकारिक) नियम होना चाहिए। इसी टिप्पणी में आगे पेटन महोदय कहते हैं कि चूंकि वैषयिक नियम ऐन्द्रियिक प्रेरकों पर आधारित रहता है अतः निरपेक्ष आदेश का उपर्युक्त सूत्र स्वतः ही इस पारंपरिक मत (Doctrine) का खंडन कर देता है कि कांट के मतानुसार, नैतिक दृष्टि से शुभ किसी कर्म में कोई ऐन्द्रियिक प्रेरक उसी समय एक नैतिक प्रेरक के रूप में उपस्थित नहीं रह सकता। दूसरे शब्दों में, कोई ऐन्द्रियिक प्रेरक नैतिक प्रेरक हो सकता है यद्यपि हमेशा ऐसा होना सत्य नहीं है।[1]

कांट कहते हैं कि यदि इस निरपेक्ष आदेश को कर्तव्य के समस्त आदेशों का सिद्धान्त मानें और उससे हम कर्तव्य के समस्त आदेशों को निर्गमित करें, तो हम कम से कम यह सरलता से समझा सकते हैं कि कर्तव्य (Duty) से हमारा तात्पर्य क्या है? तथा कर्तव्य के प्रत्यय का क्या अर्थ है? इस तरह निरपेक्ष आदेश केवल एक है, किन्तु साधारणतः हम उन अनेक नैतिक नियमों को भी निरपेक्ष आदेश कहते हैं जिनमें सामान्य निरपेक्ष आदेश लागू किया जाता है। इस तरह हम निरपेक्ष आदेश शब्द का प्रयोग बहुवचन में भी करते हैं अर्थात् 'आदेश' शब्द के साथ कई बार "आदेशों" शब्द का प्रयोग भी करते हैं। उदाहरणार्थ—"तुम्हें हत्या नहीं करना चाहिए" इस नैतिक नियम को भी हम निरपेक्ष आदेश ही मानते हैं। जबकि इस प्रकार के सभी नैतिक नियम 'एक' ही निरपेक्ष आदेश को अपना सामान्य सिद्धान्त स्वीकार कर, उससे ही निर्गमित किये जाते हैं। अपने नीतिशास्त्र में कांट यह सोचते प्रतीत होते हैं कि विभिन्न नैतिक नियम उपर्युक्त सूत्र से स्वयमेव निर्गमित किये जा सकते हैं। इसके विपरीत अपने "व्यावहारिक बुद्धि की मीमांसा" नामक ग्रन्थ में वे यह स्वीकार करते हैं कि नैतिक नियमों को निर्गमित करने के लिये हमें एक और सूत्र के उपयोग की आवश्यकता पड़ती है। अतः कांट इसके बाद उसी दूसरे सूत्र की चर्चा "प्रकृति के नियम के सूत्र" शीर्षक के अन्तर्गत करते हैं।

प्रकृति के नियम का सूत्र

सर्वप्रथम यह स्मरणीय है कि हम "प्रकृति" शब्द का प्रयोग दो अर्थों में कर सकते हैं। पहला है प्रकृति का भौतिक अर्थ, जिसके अनुसार प्रकृति

1. H. J. Paton, The Moral Law, p. 130, Notes 52 n. 1.

को भौतिक दृश्यमान वस्तुओं (Phenomena) का कुलयोग माना जाता है। दूसरे अर्थात् आकारिक अर्थ के अनुसार इसे उन नियमों का कुल योग माना जाता है जो प्राकृतिक वस्तुओं की सत्ता को निश्चित करते हैं। यह द्वितीय अर्थ ज्यादा लोकप्रिय है और साधारणतः हम जो "मानव-प्रकृति" या "विश्व की प्रकृति" आदि उक्तियों का प्रयोग करते हैं, उनमें उपर्युक्त द्वितीय अर्थ ही अभिव्यंजित होता है। अतः हम यह कह सकते हैं कि यह विश्व की प्रकृति या स्वभाव है कि वह कार्य-कारण के नियम द्वारा संचालित हो। इतना होने पर भी जब कांट यह कहते हैं कि हमारा विषयीगत सिद्धान्त प्रकृति के नियम के रूप में समझा जा सकता है तो वे प्रकृति के नियमों को सप्रयोजन मानते हैं। वस्तुतः कांट प्रकृति कम से कम मानव-प्रकृति, को सोद्देश्य मानते हैं। कांट बताते हैं कि जिस तरह कारणता संबंधी प्रकृति का सार्वभौमिक नियम है, उसी तरह कर्तव्य का सार्वभौमिक आदेश निम्नलिखित हो सकता है :

"इस तरह कर्म करो कि तुम्हारे कर्म का विषयीगत सिद्धान्त, तुम्हारे संकल्प के माध्यम से, प्रकृति का एक सार्वभौमिक नियम बन सके।"

यहाँ यह स्मरणीय है कि उपर्युक्त सूत्र निरपेक्ष आदेश के सूत्र से गौण होते हुए भी, उससे नितान्त भिन्न है क्योंकि यह प्रकृति के एक नियम की ओर संकेत करता है, स्वातंत्र्य के नियम की ओर नहीं। यह वह सूत्र है जिसका प्रयोग कांट अपने दृष्टान्तों में करते हैं। प्रश्न उठता है कि उन्होंने कर्तव्य के सार्वभौमिक आदेश के संदर्भ में प्रकृत के नियम की चर्चा क्यों की? इस प्रश्न का समुचित उत्तर कांट नहीं देते। वे केवल इतना कहते हैं कि नैतिकता के सार्वभौमिक नियम तथा प्रकृति के सार्वभौमिक नियम में सदृश्य है। यह सादृश्य है—सार्वभौमिकता। ये कठिनाइयाँ होने पर भी इतना स्पष्ट है कि कांट के मतानुसार नैतिक दृष्टि से वही व्यक्ति अच्छा है जिसके कर्म स्वार्थ प्रेरित न होकर, निर्वैयक्तिक सिद्धान्त पर आधारित होते हैं। निर्वैयक्तिक सिद्धान्त से तात्पर्य उस सिद्धान्त से है जो केवल इस या उस व्यक्ति के लिए प्रामाणिक न होकर, सार्वभौमिक रूप से अर्थात् समस्त बौद्धिक प्राणियों के लिए प्रामाणिक होता है। यही सार्वभौमिकता नैतिकता का सारतत्व (essence) है। यदि हम कर्म के विषयीगत सिद्धान्त की निष्पक्ष जांच करना चाहते हैं, तो हमें यह देखना चाहिए कि सार्वभौमिक रूप से अपनाये जाने पर क्या वह विषयीगत सिद्धान्त व्यक्ति तथा मानव-समाज दोनों के उद्देश्यों में व्यवस्थित (systematic) सामजस्य स्थापित करेगा? यदि वह सामंजस्य

स्थापित कर सके अथवा विद्यमान सामंजस्य की वृद्धि करे, तब ही उसे एक "सार्वभौमिक नैतिक नियम" की श्रेणी में रखा जा सकता है।

इस प्रकार की परख मानव-प्रकृति के अनुभवात्मक ज्ञान के बिना असंभव है। कांट ने आगे जो दृष्टान्त प्रस्तुत किये हैं उनमें वे इसी तथ्य को स्वीकार करके चले हैं।

दृष्टान्त

कांट कहते हैं कि प्रचलित विभाजन के अनुसार हम कर्तव्यों को निम्नलिखित दो युग्मों में विभाजित कर सकते हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि कांट द्वारा किया गया यह विभाजन प्रचलित या लौकिक विभाजन है। यह कांट द्वारा किया गया कर्तव्यों का निजी अथवा मौलिक विभाजन नहीं है। कांट ने कुल चार प्रकार के कर्तव्यों की चर्चा की है। वे हैं :

१. अपने प्रति किये गये कर्तव्य।
२. दूसरों के प्रति किये गये कर्तव्य। } प्रथम युग्म

३. पूर्ण कर्तव्य। (Perfect Duty)
४. अपूर्ण कर्तव्य। (Imperfect Duty) } द्वितीय युग्म

कांट इनमें से प्रत्येक कर्तव्य का एक एक-एक दृष्टान्त देकर यह दर्शाते हैं कि उनके द्वारा प्रतिपादित सूत्र सभी कर्तव्यों पर लागू किया जा सकता है।

अपने प्रति किये जाने वाले कर्तव्य का दृष्टान्त करते हुए कांट कहते हैं कि एक आदमी है जो निरंतर दुर्भाग्य की चोट खा-खा कर जीवन से पूर्णतः विरक्त हो चुका है। ऐसे आदमी के समक्ष भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि "क्या अपने जीवन का अन्त कर लेना या आत्महत्या, अपने प्रति किये जाने वाले कर्तव्य से विमुख होना नहीं है? आत्महत्या के बिन्दु या सीमा तक पहुँचकर वह यह परीक्षा करता है कि "क्या वस्तुतः मेरे कर्म (आत्महत्या) का मेरा विषयीगत सिद्धान्त—'दुःखमय जीवन से त्रस्त होने पर आत्महत्या करना चाहिए'—प्रकृति का एक सार्वभौमिक नियम हो सकता है?" परीक्षा करते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका विषयीगत सिद्धान्त एक सार्वभौमिक नियम नहीं बन सकता है। प्रकृति का नियम है—जीवन के परिवर्द्धन को प्रोत्साहित करना। अतः उपर्युक्त विषयीगत नियम प्रकृति के नियम का विरोधी सिद्ध होता है। जीवन-रक्षा प्रकृति का एक मूलभूत नियम है। यदि इस नियम का पालन न किया जाये तो प्रकृति की सत्ता ही समाप्ति हो जायेगी। इस तरह हम पाते हैं कि उपर्युक्त विषयीगत नियम प्रकृति का सार्वभौमिक नियम नहीं बन सकता अतः यह समस्त कर्तव्यों के सर्वोच्च

सिद्धान्त का पूर्णतः विरोधी है। इसके विपरीत "निष्काम भाव से अपने जीवन की रक्षा करना" कर्तव्य है।

कांट दूसरा उदाहरण "दूसरों के प्रति किये जाने वाले कर्तव्य" का देते हैं। एक व्यक्ति आवश्यकता के कारण ऋण लेने को विवश होता है। वह यह जानता है कि वह ऋण के रूप में ली गई धनराशि नहीं चुका पायेगा; किन्तु साथ ही वह यह भी जानता है कि ऋण चुकाने का वायदा किये बिना उसे कहीं से भी ऋण प्राप्त नहीं हो सकेगा। अतः वह झूठा वायदा करने का निश्चय कर लेता है। फिर भी, उसके दिमाग में यह प्रश्न उठता है कि क्या इस तरह से झूठा वायदा कर ऋण लेकर, कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करना अवैधानिक तथा कर्तव्य-विरोधी कर्म नहीं हैं? क्या उस व्यक्ति का यह विषयीगत नियम कि "जब भी मुझे पैसों की आवश्यकता पड़ेगी मैं किसी व्यक्ति से झूठा वायदा कर ऋण ले लूंगा" उचित है? कर्म के उपर्युक्त नियम का औचित्य-अनौचित्य जानने के लिए हमें पुनः वही कसौटी अपनाना चाहिए अर्थात् हमें यह पूँछना चाहिए कि यदि व्यक्तिगत लाभ तथा आत्मप्रेम पर आधारित उस व्यक्ति का विषयीगत कर्म-सिद्धान्त एक सार्वभौमिक नियम हो जाये, तो क्या होगा? प्रश्न उठते साथ ही हमें अथवा उस व्यक्ति को यह ज्ञात हो जाता है कि यह कभी भी प्रकृति के नियम जैसा सार्वभौमिक नियम नहीं हो सकता, न कभी यह आत्मसंगत ही हो सकता है। वस्तुतः यह आत्मविरोधी या आत्मविघाती नियम है। वह इस तरह कि यदि प्रत्येक मनुष्य आवश्यकता पड़ने पर झूठे वायदे कर ऋण लेना अपना नियम बना ले, तो न "वायदा" नाम की किसी चीज की सत्ता रहेगी, न वायदे का कोई उद्देश्य। क्योंकि वैसी स्थिति में कोई भी व्यक्ति यह विश्वास नहीं करेगा कि उससे कुछ "वायदा" किया जा रहा है। इसके विपरीत तथाकथित वायदों को 'पाखण्ड' समझा जायेगा। यहाँ एबॉट का यह कथन सत्य है कि कांट व्यावहारिक परिणामों द्वारा नहीं, वरन् तार्किक परिणामों द्वारा विषयीगत सिद्धान्तों की नैतिकता जाँचते हैं।[1]

तीसरा दृष्टान्त कांट उस विशेष व्यक्ति का देते हैं जो अपने में एक ऐसी प्रतिभा पाता है जिसकी उन्नति उस व्यक्ति को सभी प्रकार के उद्देश्यों के लिए एक उपयोगी आदमी बना सकती है, किन्तु आरामदायी परिस्थितियों

---

१. टी०के० एबॉट, कांट्स क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीज़न एण्ड अदर वर्क्स ऑन द थ्योरी ऑफ एथिक्स, षष्ठम संस्करण, पृ० liii.

में अपने को पाकर वह अपनी भाग्यशाली प्राकृतिक योग्यताओं (Aptitudes) की उन्नति व परिष्कार की ओर ध्यान न देकर, ऐन्द्रिक सुख की चिंता करने लगता है। फिर भी वह अपने से पूछता है कि "क्या अपनी प्रकृतिदत्त देनों के तिरस्कार का उसका विषयीगत नियम कर्तव्य के अनुरूप है? तब वह यह देखता है कि प्रकृतिप्रदत्त या जन्मजात प्रतिभाओं का तिरस्कार कर जीवन को पूर्णतः आलस्य, प्रजनन तथा भौतिक सुखों के लिए समर्पित कर देना सदैव एक सार्वभौमिक नियम बन सकता था, तथा बन सकता है; किन्तु वह कभी भी यह इच्छा नहीं कर सकता कि यह नियम एक सार्वभौमिक नियम बनना चाहिए या सार्वभौमिक नियम के रूप में हम सब में एक प्राकृतिक मूल प्रवृत्ति द्वारा रोप दिया जाना चाहिए। कांट कहते हैं कि इस अनिच्छा का कारण है उस व्यक्ति का बौद्धिक प्राणी होना। बौद्धिक प्राणी होने के नाते वह अनिवार्य रूप से यह इच्छा रखता है कि मानव को अपनी समस्त शक्तियों का विकास करना चाहिए क्योंकि वे शक्तियाँ उसे सभी संभाव्य उद्देश्यों के लिए प्रदान की गई हैं।

चौथा दृष्टान्त कांट उस व्यक्ति का देते हैं जो स्वयं समृद्ध होता जा रहा है तथा यह देख रहा है कि अन्य कुछ लोग कठिन संघर्ष करते हुए भी निर्धन हैं। यह व्यक्ति उन निर्धन व्यक्तियों की सहायता कर सकता है, किन्तु सोचता है कि इनसे मुझे क्या लेना-देना। अन्य लोग सुखी हों, इस पर उसे आपत्ति नहीं है। अन्य लोगों की खुशी से वह ईर्ष्या भी नहीं करता। केवल इतना है कि उनकी समृद्धि के लिए कुछ भी योगदान करने की इच्छा वह नहीं रखता है। एक शब्द में, वह "तटस्थ" रहता है। कांट कहते हैं कि तटस्थता की उपर्युक्त मनोवृत्ति प्रकृति का एक सार्वभौमिक नियम हो सकता है और कांट की दृष्टि में वह स्थिति इस वर्तमान स्थिति की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ होगी जिसमें प्रत्येक व्यक्ति सहानुभूति व शुभसंकल्प के विषय में बकवास किया करता है तथा अवसर उपस्थित होने पर उनका अभ्यास करने का श्रम भी करता है, किन्तु दूसरी ओर जहाँ तक संभव है, वह इनसे जी चुराता है तथा दूसरी तरह से उनका उल्लंघन करता है। कांट आगे लिखते हैं कि यद्यपि उपर्युक्त विषयीगत नियम तथा प्रकृति के सार्वभौमिक नियम में सामंजस्य संभव है तथापि यह "इच्छा करना" असंभव है कि इस तरह का कोई सिद्धान्त सब जगह प्रकृति के एक नियम के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। वस्तुतः जो भी मनुष्य या संकल्प इस तरह का निर्णय लेगा, वह आत्म-विरोध में फंसेगा क्योंकि प्रत्येक मनुष्य के जीवन में कभी न कभी ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो

है कि किन प्रतिभाओं को हम विकसित करें तथा किन व्यक्तियों की हम सहायता करें। इस तरह यहाँ या अपूर्ण कर्तव्यों के क्षेत्र में अपनी अभि-लाषाओं के लिए हम कुछ क्षेत्र प्राप्त कर सकते हैं।

अपने प्रति किये जाने वाले कर्तव्यों के संबंध में कांट यह मानते हैं कि हमारी विभिन्न योग्यताओं का हमारे जीवन में कोई न कोई स्वाभाविक उद्देश्य अवश्य रहता है। इन उद्देश्यों का विरोधन करना पूर्ण कर्तव्य है तथा इन उद्देश्यों में अन्य उद्देश्यों को जोड़ उनकी वृद्धि करना विधानात्मक किन्तु अपूर्ण कर्तव्य है।

दूसरों के प्रति किये जाने वाले कर्तव्यों के सम्बन्ध में कांट यह मानते हैं कि मानवों के मध्य उद्देश्यों के संभाव्य सामंजस्य की सिद्धि का विरोध न करना 'पूर्ण कर्तव्य है'। जबकि इस प्रकार के सामंजस्य की सिद्धि के परे जाना या इसे ही महत्व देना विधानात्मक किन्तु अपूर्ण कर्तव्य है।

—:o:—

॥ ओ३म् शिवाय ॥

नैतिक निर्णय का अधिनियम (Canon)[1]

कांट की दृष्टि में कर्म संबंधी समस्त नैतिक निर्णयों का एक ही सिद्धान्त है, जो निम्नलिखित है :

"हमें इस योग्य बनना चाहिए कि हम यह इच्छा (will) कर सकें कि कर्म का हमारा विषयीगत सिद्धान्त एक सार्वभौमिक नियम हो। "कुछ कर्म ऐसे होते हैं जिनके विषयीगत सिद्धांत को बिना किसी विरोध के प्रकृति के एक सार्वभौमिक नियम के रूप में 'देखा' तक नहीं जा सकता। अतः सार्वभौमिक नियम के रूप में उनकी "इच्छा करना" दूर की बात है। उदाहरणार्थ यह विषयीगत नियम कि "आत्मप्रेम को, जीवन को उन्नत भी बनाना चाहिए तथा उसका नाश भी करना चाहिए," कभी भी प्रकृति के एक सार्वभौमिक नियम के रूप में नहीं देखा जा सकता। ऐसी स्थिति में विषयीगत नियम पूर्ण कर्तव्य का विरोधी रहता है।

कुछ कर्म ऐसे होते हैं जिनमें उपर्युक्त आंतरिक असंभावना तो नहीं पाई जाती, तथापि उनके विषयीगत सिद्धान्तों के संबंध में यह संकल्प करना असंभव रहता है कि वे प्रकृति के नियमों जैसी सार्वभौमिकता प्राप्त करें। संकल्प करना इसलिये असंभव रहता है कि यदि ऐसा संकल्प किया जाये तो वह आत्म-विरोधी होगा। उदाहरणार्थ इस विषयीगत नियम को लीजिए कि "मनुष्यों के पास प्रतिभायें रहना चाहिए, तथापि मनुष्यों को उनका उपयोग कभी भी नहीं करना चाहिए।" इस प्रकार के विषयीगत नियम अपूर्ण कर्तव्य के विरोधी हैं।

यह सरलता से देखा जा सकता है कि पहिले प्रकार के कर्म कट्टर या संकुचित कर्तव्य के विरोधी होते हैं, जबकि दूसरे प्रकार के कर्म केवल व्यापक कर्तव्य के विरोधी रहते हैं। स्मरणीय है कि यहाँ कांट केवल चार

---

१. कांट ने ज्ञान के "अनुभवपूर्व सिद्धांतों" के योग को कैनन कहा है।

प्रकार के कर्तव्यों की चर्चा कर रहे हैं। वे चार प्रकार के कर्तव्य हैं :

१. पूर्ण कर्तव्य।
२. अपूर्ण कर्तव्य।
३. आंतरिक कर्तव्य। (अपने प्रति किये जाने वाले कर्तव्य)
४. बाह्य कर्तव्य। (अन्य व्यक्तियों के प्रति किये जाने वाले कर्तव्य)

कांट यह बताते हैं कि इन चार प्रकार के कर्तव्यों में भिन्न-भिन्न प्रकार की "कर्तव्यता" या (Obligation) बाध्यता पाई जाती है। 'कर्तव्यता' में यह वैभिन्न्य कर्तव्यों के विषयों की विभिन्नता के कारण होता है। किन्तु इतना सत्य है कि 'कर्तव्यता या बाध्यता' प्रत्येक कर्तव्य में पाई जाती है, चाहे वह पूर्ण कर्तव्य हो या अपूर्ण कर्तव्य। कांट कहते हैं कि यदि नैतिक कर्म के विषय को छोड़ दिया जाये, तो इस सामान्य 'कर्तव्यता' की दृष्टि से हमारे सभी प्रकार के कर्तव्य उपर्युक्त एक ही सिद्धान्त पर आश्रित हैं। कर्तव्यता' को हम "किया जाना चाहिए की बाध्यता" के रूप में परिभाषित कर सकते हैं।

जब भी हम किसी कर्तव्य का उल्लंघन करते हैं, उस समय यदि हम अपना आत्म-निरीक्षण करें तो यह पाते हैं कि सच कहा जाये तो हम उस समय के अपने विषयीगत नियम को एक सार्वभौमिक नियम के रूप में नहीं देखना चाहते। इसके विपरीत, हम उसके विरोधी नियम की सार्वभौमिक नियम के रूप में कामना करते हैं। ऐसा हम इसलिए करते हैं कि कर्तव्य-विरोधी कोई कर्म करते समय हम स्वार्थ के कारण अपने को "अपवाद" समझे जाने अथवा मानने की स्वतंत्रता लेते हैं। परिणामस्वरूप यदि हम इस सबको केवल एक ही दृष्टिकोण से देखें अर्थात् बुद्धि के दृष्टिकोण से देखें तो हम अपने ही संकल्प में विरोध की सत्ता पाते हैं। वह विरोध यह है कि एक ओर तो हम यह चाहते हैं कि अमुक सिद्धान्त सार्वभौमिक नियम के रूप में वस्तुनिष्ट दृष्टि से अनिवार्य होना चाहिए तथा दूसरी ओर, हम यह भी चाहते हैं कि वह विषयीगत दृष्टि से एक सार्वभौमिक नियम न हो; किन्तु अपवादों को भी स्वीकार करता हो। हम ऐसा इसलिए सोचते हैं क्योंकि हम पहिले अपने कर्म को एक ऐसे संकल्प के दृष्टिकोण से समझते हैं जो पूर्णतः बुद्धि के अनुरूप होता है। फिर हम उसी कर्म को ऐसे संकल्प के दृष्टिकोण से समझते हैं जो अभिलाषाओं, स्वार्थों, इत्यादि से प्रभावित है। वस्तुतः यहाँ कोई "सैद्धान्तिक" विरोध नहीं है। जो विरोध यहाँ दृष्टिगोचर होता है वह तृष्णाओं तथा बुद्धि के सिद्धान्त के मध्य है। इस

विरोध के कारण ही सिद्धान्त की 'सार्वभौमिकता' केवल एक "सामान्यता" (generality) में परिणित हो जाती है। स्मरणीय है कि कांट की दृष्टि में नैतिक समस्यायें केवल "चिंतन" संबंधी समस्यायें नहीं हैं, वे "संकल्प" संबंधी समस्यायें हैं अतः अशुभ कर्म करते समय सैद्धान्तिक विरोध उपस्थित नहीं होता, वरन् बौद्धिक संकल्प तथा अनुभवात्मक तत्वों—तृष्णाओं, स्वार्थ आदि—के मध्य विरोध उत्पन्न होता है। इस विरोध के कारण सिद्धान्त की सार्वभौमिकता, सामान्यता के रूप में शेष रह जाती है जिससे हम बुद्धि के व्यावहारिक सिद्धान्त का अपने विषयीगत सिद्धान्त से किसी सीमा तक, समझौता कर पाते हैं। हमारे स्वयं के निष्पक्ष निर्णयानुसार उपर्युक्त प्रक्रिया उचित सिद्ध नहीं की जा सकती, तथापि यह प्रक्रिया सिद्ध करती है कि वस्तुतः हम निरपेक्ष आदेश की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं तथा निरपेक्ष आदेश के प्रति आदर की भावना रखते हैं। आदर की भावना रखते हुए भी हम अपने लिए कुछ अपवादों का अनुमोदन करते हैं।

यदि कर्तव्य का प्रत्यय एक ऐसा प्रत्यय है जिसका हमारे कर्मों के लिये कोई अर्थ है; यदि यह प्रत्यय कर्मों की वास्तविक व्यवस्थापक (Legislative) शक्ति है, तो इस प्रत्यय को केवल निरपेक्ष आदेशों में ही अभिव्यक्त किया जा सकता है। कर्तव्य के प्रत्यय को कभी भी सापेक्ष आदेशों में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। निरपेक्ष आदेश की अन्तर्वस्तु (Content) की चर्चा कांट ने अपनी पुस्तक में अनेक बार की है। पुनः स्मरणीय केवल इतना ही है कि निरपेक्ष आदेश में समस्त कर्तव्यों के "सिद्धान्त" का समावेश अवश्य ही होना चाहिए। फिर अब तक कांट ने प्राक्-आनुभविक दृष्टि से यह प्रमाणित नहीं किया है कि वस्तुतः इस प्रकार का कोई आदेश हैं अथवा एक ऐसा व्यावहारिक नियम है, जो बिना किसी अन्य प्रेरकों के, निरपेक्ष रूप से स्वतः ही किसी कर्म की आज्ञा देता है तथा इस नियम का पालन करना "कर्तव्य" है।

विशुद्ध नीतिशास्त्र की आवश्यकता

यदि हम कर्तव्य के प्रत्यय व सिद्धान्त के लिए प्राक्-आनुभविक प्रमाण की प्राप्ति करना चाहते हैं, तो इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह सतर्कता बरतना अत्यधिक महत्वपूर्ण है कि हम कभी भी इस सिद्धान्त की सत्ता को मानव-स्वभाव की विशिष्ट विशेषताओं से निर्गमित करने की चेष्टा न करें। यदि गम्भीर चिन्तन करें तो हम यह पाते हैं कि कर्तव्य में किसी कर्म को

करने की एक व्यावहारिक तथा निरपेक्ष अनिवार्यता होती है। इस निरपेक्ष अनिवार्यता के कारण यह समस्त बौद्धिक प्राणियों पर लागू होना चाहिए। अपनी इसी विशेषता के कारण यह समस्त मानव-संकल्पों के लिए एक कर्म-नियम भी हो सकता है। (स्मरणीय है कि कांट की दृष्टि में 'आदेश' केवल बौद्धिक प्राणियों को ही दिये जा सकते हैं।) इसके विपरीत जो कुछ भी मानवता या मानव की विशिष्ट प्रवृति, विशिष्ट भावनाओं तथा विशिष्ट रुचियों, और यदि संभव हो तो, मानव-बुद्धि की विशिष्ट रुझानों से निर्गमित किया जाता है, वह प्रत्येक बौद्धिक प्राणी के संकल्प के लिए अनिवार्य रूप से सत्य नहीं होता। अतः अधिक से अधिक वह एक विषयीगत सिद्धान्त हो प्रदान कर सकता है। वह कभी भी एक सार्वभौमिक नियम का निर्माण नहीं कर सकता। यहाँ कांट "विशिष्ट" (Special) शब्द का प्रयोग "वैयक्तिक" के लिये कर रहे हैं अर्थात् 'व्यक्ति-विशिष्ट' के लिये उन्होंने विशिष्ट शब्द का प्रयोग किया है। इस तरह विशिष्ट प्रवृतियों आदि से निर्गमित तथ्य हमें एक ऐसा विषयीगत (Subjective) सिद्धान्त दे सकते हैं जिसके अनुसार कर्म करने की प्रवृति तथ झुकाव हममें नैसर्गिक रूप से पाया जाता है; किन्तु वे एक ऐसा वस्तुगत (Objective) सिद्धान्त कभी भी प्रदान नहीं कर सकते जिसके अनुसार कर्म करने की हमें 'आज्ञा' दी जाना चाहिए। यह हमें ऐसा कर्म-सिद्धान्त प्रदान नहीं कर सकता जो हमारी प्रत्येक कर्तव्य-विरुद्ध व्यक्तिगत रुचि, अभिलाषा तथा प्राकृतिक या जन्मजात प्रवृति पर प्रतिबंध लगाकर, उनके विपरीत किसी कर्म को करने की आज्ञा हमें देता हो। कांट बताते हैं कि 'आज्ञा' (Command) की प्रतिष्ठा तथा उसका आंतरिक मूल्य कर्तव्य या नैतिक कर्म में ही अपेक्षाकृत अधिक अच्छे से प्रगट होता है। यद्यपि कर्तव्य संबंधी आज्ञा के पालन के पक्ष में बहुत कम विषयीगत कारण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। अधिकतर तो इस आज्ञा का विरोध करते हैं। तथापि इससे सार्वभौमिक नियम द्वारा निर्देशित 'बाध्यता या कर्तव्यता' में कुछ भी अन्तर या कमी नहीं आती, न ही इससे सार्वभौमिक नियम की प्रामाणिकता में कोई अन्तर आता है।

कांट के अनुसार यहीं दर्शनशास्त्र की स्थिति बड़ी अनिश्चित व संदिग्ध दिखाई देती है। यद्यपि दर्शन की स्थिति को सुदृढ़ माना जाता है तथापि न तो स्वर्ग में और न ही धरा पर कुछ ऐसा है जिससे यह सम्बद्ध हो या जिस पर यह आधारित हो। कांठ के विचार में, यहीं दर्शन शास्त्र को अपनी विशुद्धता (Purity) का परिचय अपने ही नियमों के प्रवर्तक व उत्पादक के

रूप में देना होगा। दर्शन शास्त्र को यह स्पष्ट करना होगा कि वह उन नियमों का प्रचारक नहीं है जिनका स्त्रोत् हममें निहित इन्द्रिय-चेतना अथवा जन्मजात प्रवृति है। उपर्युक्त प्रकार के समस्त नियम कभी भी हमें वे सिद्धान्त प्रदान नहीं कर सकते जो बुद्धि द्वारा लिपिबद्ध कराये जाते हैं; जो बुद्धि द्वारा प्रदान किये जाते हैं। कर्तव्य संबंधी सिद्धान्तों का उद्गम पूर्णतः प्राक्-आनुभविक होना चाहिए तथा यही प्राक्आनुभविक स्त्रोत् उनकी सर्वोच्च प्रभुता का आधार होना चाहिये। ये सिद्धान्त मनुष्य की प्रवृतियों से कोई अपेक्षा नहीं रखते। इन्हें केवलमात्र सार्वभौमिक नियम की सर्वोच्चता तथा उसके प्रति मानव द्वारा की जाने वाली श्रद्धा की अपेक्षा रहती है। इन सार्वभौमिक नियमों का पालन न करने पर मनुष्य आत्म-तिरस्कार तथा आंतरिक घृणा के भाव से भर उठता है।

कांट कहते हैं कि जो कुछ भी अनुभवात्मक है, वह न केवल नैतिकता के सिद्धान्त के लिए अनुपयुक्त है वरन् नैतिक आदर्शों की विशुद्धता के लिए अत्यधिक घातक भी है। कहने का तात्पर्य यह है कि नैतिकता के सिद्धान्त के संदर्भ में हमें अनुभवात्मक व्याख्याओं का समावेश नहीं करना चाहिए। नैतिक सिद्धान्त स्वयं ही कर्म के निर्धारण हेतु सक्षम होना चाहिए। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि अन्य प्रेरक उपस्थित हो ही नहीं सकते। यदि कोई अनुभवात्मक प्रेरक नैतिकता-विरोधी न हो, तो उसका समावेश किया जा सकता है। नैतिक आदर्शों में स्थित "परम शुभ संकल्प" का उचित मूल्य इस बात में निहित रहता है कि कर्म का सिद्धान्त सभी अनुभावात्मक, संदिग्ध आधारों के प्रभाव से पूर्णतः मुक्त हो। कांट यह स्वीकार करते हैं कि अनुभवात्मक प्रेरकों तथा नियमों के मध्य नैतिक सिद्धान्त को खोजने की तुच्छ मनोवृति के विरुद्ध हम पूर्ण दृढ़ता से कोई चेतावनी नहीं दे सकते, क्योंकि मानव-बुद्धि अपने थकान के क्षणों में इसी तकिये पर विश्राम लेने तथा मधुर भ्रमों के सपने देखने में खुश रहती है। सद्गुण (Virtue) को उसके वास्तविक स्वरूप में देखना और कुछ नहीं वरन् नैतिकता को ही बिना किसी इन्द्रियात्मक-तत्वों के मिश्रण के देखना है। नैतिकता से अनुभवात्मक व इन्द्रियात्मक तत्वों का पृथक्करण हम तभी कर सकते हैं जब अपनी बुद्धि को सूक्ष्म अमूर्तबोधन के योग बना लें।

कांट के विचारानुसार हमारे सामने मूल प्रश्न यह है कि "क्या यह समस्त बौद्धिक प्राणियों के लिए एक अनिवार्य नियम है कि वे अपने कर्मों का

निर्णय सदैव उन कर्म-सिद्धान्तों के आधार पर करें जिनके लिये वे स्वयं यह इच्छा कर सकें कि उन सिद्धान्तों को सार्वभौमिक नियम होना चाहिए ?" यदि वस्तुतः इस प्रकार का कोई नियम हो तो उसे पूर्णतः प्राक्-आनुभविक रूप से, बौद्धिक प्राणी के संकल्प के प्रत्यय से सम्बद्ध होना चाहिए। इस इस संबंध को खोजने के लिये हमें इसके परे जाना चाहिए अर्थात् नैतिक आदर्शों की तत्वमीमांसा के क्षेत्र में प्रवेश करना चाहिए। नैतिक आदर्शों की तत्वमीमांसा संकल्पनात्मक (Speculative) दर्शन से भिन्न है। नैतिक आदर्शों की तत्वमीमांसा में "व्यावहारिक बुद्धि की मीमांसा"[1] सम्मिलित रहती है। व्यावहारिक बुद्धि की मीमांसा मुख्यतः बौद्धिक संकल्प तथा नैतिक नियम के मध्य पाये जानेवाले प्राक्आनुभविक संबंध के प्रमाणीकरण से संबंधित है। व्यावहारिक दर्शन का संबंध "क्या होता है" से नहीं रहता, वरन् 'क्या होना चाहिए' से रहता है। इसमें हम उन कारणों का अध्ययन नहीं करते जिनका संबंध घटित होने वाले "व्यवहार" से होता है। इसमें हम उन नियमों (Laws) का अध्ययन करते हैं जिनका संबंध "क्या होना चाहिए" अर्थात् आदर्शों से रहता है, चाहे व्यवहार में वैसा होता हो या नहीं। संक्षेप में, व्यावहारिक दर्शन में "व्यवहार" का अध्ययन न किया जाकर, केवल वस्तुगत व्यावहारिक नियमों का अध्ययन ही किया जाता है। अतः व्यावहारिक दर्शन के अन्तर्गत हमें यह खोज करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती कि कोई चीज हमें सुख या दुःख क्यों देती है ? या स्पर्श-संवेदना के इन्द्रिय-सुख से स्वाद की संवेदना का इन्द्रिय-सुख किस प्रकार भिन्न है ? अथवा क्या स्वाद की संवेदना से इन्द्रिय सुख को सार्वभौमिक स्वीकृति प्राप्त है ? या इन्द्रिय सुख तथा दुःख की भावनाओं का आधार क्या है ? या इन भावनाओं से इच्छाओं तथा प्रवृतियों का जन्म कैसे होता है; तथा कैसे बुद्धि के साथ इनका सहयोग होने पर विषयीगत नियमों का निर्माण होता है। उपर्युक्त समस्त समस्याएँ अनुभवात्मक मनोविज्ञान की विषय-सामग्री है। कांट कहते हैं कि यदि प्रकृति के सिद्धान्त (Doctrine) से हमारा तात्पर्य प्रकृति के दर्शन से हो, तो अनुभवात्मक मनोविज्ञान उसका द्वितीय भाग होगा। हम पहिले ही देख चुके हैं कि कांट के मतानुसार भौतिकशास्त्र या प्राकृतिक दर्शन के, "अनुभवात्मक" तथा "प्राक्-आनुभविक" दो भाग होना चाहिए। अनुभवात्मक भाग को पुनः दो भागों में विभाजित किया जाता है। इसमें से पहला भाग भौतिक प्रकृति के संसार से संबंधित है जबकि

1. Critique of Practical Reason.

दूसरे का संबंध ज्ञाता (Mind) से रहता है। इसी दूसरे भाग की चर्चा कांट ने "अनुभवात्मक मनोविज्ञान" कहकर की है।

कांट "वस्तुगत व्यावहारिक नियमों" की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं अतः "अनुभवात्मक मनोविज्ञान" के विस्तार में न जाकर, पुनः वस्तुगत व्यावहारिक नियमों के अध्ययन पर लौट आते हैं और बुद्धि द्वारा निर्धारित संकल्प का संबंध साधारण संकल्प से बताने की चेष्टा करते हैं। कांट कहते हैं कि यदि बुद्धि बिना किसी अनुभवात्मक तत्व के, अपने ही द्वारा आचरण को निर्धारित करती है तो उसे ऐसा अनिवार्यतः प्राक्-आनुभविक रूप से ही करना चाहिए। कांट इस संभावना की खोज करते हैं कि क्या पूर्णतः बुद्धि द्वारा आचरण को निर्धारित किया जाना संभव है? वे अपनी खोज के अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि निश्चित रूप से ऐसा संभव है।

अपने आप में साध्य होने का सूत्र (The Formula of the End in itself)

नैतिकता के संदर्भ में अब तक कांट दो सूत्रों की चर्चा कर चुके है। वे दो सूत्र हैं—(१) सार्वभौमिक नियम का सूत्र तथा (२) प्रकृति के नियम का सूत्र। जहाँ कांट नैतिकता के तीसरे सूत्र की चर्चा करते हैं। इस तृतीय सूत्र को उन्होंने "अपने आप में साध्य होने का सूत्र" कहा है।

सर्वप्रथम कांट यह बताते हैं कि संकल्प को एक ऐसी शक्ति के रूप में देखा जाता है, जो व्यक्ति को कुछ निश्चित नियमों के 'ज्ञान' के अनुरूप कर्म करने के लिए प्रेरित करती है। ज्ञान के अनुरूप कर्म करने की शक्ति केवल बौद्धिक प्राणियों में पाई जाती है। पशुओं का व्यवहार भी निश्चित नियमों द्वारा संचालित रहता है, किन्तु उनमें व मानव में यह मुख्य भेद है कि पशुओं को उन नियमों का ज्ञान नहीं रहता जो नियम उनके व्यवहार को प्रभावित करते हैं। जबकि मनुष्य को किये जा रहे कर्म के सिद्धान्त का "ज्ञान" भी रहता है।

आत्म-निर्धारण (Self-determination) का विषयीगत आधार कोई न कोई 'साध्य' रहता है। यदि यह साध्य केवल बुद्धि द्वारा प्रदत्त हो, तो यह समस्त बौद्धिक प्राणियों के लिए अवश्य ही समान रूप से प्रामाणिक होना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि बुद्धि-प्रदत्त 'साध्य' में समस्त बौद्धिक प्राणियों का साध्य होने की क्षमता रहना चाहिए। स्मरणीय है कि साध्य विषयीगत भी हो सकते हैं तथा वस्तुगत भी; किन्तु किसी भी प्रकार के साध्य को व्यक्तियों को वैयक्तिक रूप से ही चुनना होगा। हमें किसी भी चीज को अपना साध्य बना लेने के लिए कभी भी बाध्य नहीं किया जा सकता। इस

तरह संकल्प के आत्म-निर्धारण में प्रत्येक साध्य एक विषयीगत आधार है। अब, यदि कोई साध्य पूर्णतः बुद्धि द्वारा निर्धारित हो अर्थात् उसमें अनुभवात्मक तत्व—जैसे इच्छा, रुचि आदि का थोड़ा भी अंश न हो तब वही साध्य वस्तुगत आधार हो जाता है। साध्य के प्रत्यय के साथ साधन का प्रत्यय घनिष्ठ रूप से जुड़ा है। अतः कांट साधन की परिभाषा देते हैं। कांट की परिभाषानुसार "साधन वह है जो किसी कर्म-जिसका परिणाम (effect) साध्य कहलाता है—की संभावना का आधार हो। किसी कर्म की संभावना के आधार के रूप में साधन एक निमित्त (instrument) प्रतीत होता है। यहाँ तो कांट ने साधन की परिभाषा कर्म की संभावना के आधार के रूप में ही की है; किन्तु सामान्यतः कांट किसी कर्म को ही साधन मानते हैं। कर्म को प्रायः वे एक ऐसा साधन मानते हैं जो किसी सापेक्ष आदेश द्वारा साधन बताया जाता है।

हमारी इच्छा का विषयीगत आधार हमारी कोई चित्तवृत्ति (impulsion) रहती है जबकि हमारे किसी संकल्प (Volition) का वस्तुगत आधार कोई प्रेरक रहता है। अतः विषयीगत साध्यों तथा वस्तुगत साध्यों में भेद रहता है। विषयीगत साध्य चित्तवृत्तियों पर आश्रित होते हैं जबकि वस्तुगत साध्य समस्त बौद्धिक प्राणियों के लिये प्रामाणिक रहने वाले प्रेरकों पर आधारित होता है। कांट के मतानुसार, जब व्यावहारिक सिद्धान्तों को विषयीगत साध्यों से पृथक् करके देखा जाता है तब वे "आकारिक सिद्धांत" (Formal Principle) होते हैं। दूसरी ओर, यदि वे विषयीगत साध्यों, परिणामतः चित्तवृत्तियों पर आधारित हैं तो वे भौतिक सिद्धान्त (Material Principle) कहलाते हैं। कांट ने भौतिक (material) साध्य उन साध्यों को कहा है जिन्हें कोई बौद्धिक प्राणी अपने किसी कर्म के परिणाम के रूप में मनमाने ढंग से या स्वेच्छानुसार अंगीकार करता है। ये भौतिक साध्य सदैव सापेक्ष होते हैं क्योंकि इनका संबंध ज्ञाता की निजी इच्छाओं व व्यक्तिगत विशेषताओं से रहता है। वे ही इन्हें मूल्य अथवा महत्व प्रदान करती हैं। इन साध्यों के आधार पर कोई भी सार्वभौमिक सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता अर्थात् इनके आधार पर ऐसा कोई भी सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता जो अन्य समस्त बौद्धिक प्राणियों तथा प्रत्येक संकल्प के लिए प्रामाणिक व अनिवार्य रहे। कहने का अर्थ यही है कि इनकी सहायता से कोई भी व्यावहारिक नियम नहीं बनाया जा सकता। परिणामस्वरूप उपर्युक्त सभी सापेक्ष साध्य केवल सापेक्ष आदेशों के ही आधार हो सकते हैं। रेखाचित्र के द्वारा कांट के उपर्युक्त विभाजन को हम संक्षेप में दर्शा सकते हैं।

व्यावहारिक सिद्धान्त (Practical Principle)

आकारिक सिद्धान्त (Formal Principle) (वस्तुगत साध्यों पर आधारित)	भौतिक सिद्धान्त (Moterial Principle) (विषयीगतत साध्यों पर आधारित)
समस्त बौद्धिक प्राणियों के लिये प्रामाणिक बुद्धित्व पर आश्रित	व्यक्ति-विक्षेष के लिए प्रामाणिक चित्तवृत्तियों पर आश्रित

आगे कांट कहते हैं कि एक चीज ऐसी भी है जिसकी सत्ता में आंतरिक मूल्य है। यह चीज अपने आप में साध्य है, तथा यह स्वयं ही साध्य होने के कारण सार्वभौमिक नियमों का आधार हो सकती है। उनके अनुसार केवल इसमें ही संभव निरपेक्ष आदेश अथवा व्यावहारिक नियम का आधार निहित रहता है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी चीज़ निरपेक्ष आदेश का आधार नहीं हो सकती। कांट यह मानकर चलते हैं कि प्रत्येक मनुष्य अथवा बौद्धिक प्राणी की सत्ता "अपने आप में साध्य" के रूप में है। बौद्धिक प्राणी इस या उस संकल्प के मनमाने प्रयोग के लिए एक "साधनमात्र" नहीं है। साधारण शब्दों में, बौद्धिक प्राणी होने के नाते मनुष्य अन्य किसी मनुष्य अथवा मनुष्यों के हाथों का खिलौना नहीं है। प्रत्येक बौद्धिक प्राणी को उसके समस्त कर्मों के संदर्भ में—चाहे वे कर्म उसके अपने ही प्रति हों अथवा अन्य बौद्धिक प्राणियों के प्रति हों—सदैव उसी क्षण एक साध्य के रूप में देखा जाना चाहिए। हमारी प्रवृति (inclination) के समस्त विषयों में केवल एक सोपाधिक मूल्य रहता है, क्योंकि यदि हमारी प्रवृतियाँ न हों तथा उन पर आश्रित आवश्यकतायें न हों, तो उनके विषय भी मूल्यहीन हो जायेंगे। यहाँ यह स्मरणीय है कि सामान्य मत कांट के मत से भिन्न है। सामान्यतः हम यह मानते हैं कि प्रवृतियाँ आवश्यकताओं पर आधृत हैं। कांट कहते हैं कि आवश्यकताओं के स्रोतों के रूप में प्रवृतियों में अपने आप में ऐसा कोई परम मूल्य नहीं होता, जो उन्हें उनके लिए ही अभीष्ट बना दे। प्रबृतियों के कट्टर विरोधी कांट तो यहाँ तक कहते हैं कि प्रत्येक बौद्धिक प्राणी में इन प्रवृतियों से अपने आपको मुक्त करने की सार्वभौमिक इच्छा होना चाहिए। इस तरह कांट की दृष्टि में, हमारे कर्मों द्वारा उत्पन्न किए जा सकने योग्य समस्त विषय सोपाधिक (conditioned) हैं। कांट 'वस्तु' तथा 'मनुष्य' में भेद करते हुए कहते हैं कि जिन प्राणियों की सत्ता हमारे संकल्प पर आश्रित न

होकर, प्रकृति (nature) पर आश्रित होती है, ऐसे प्राणी यदि "अ-बौद्धिक" प्राणी है तो साधन के रूप में ही उनका सापेक्ष महत्व होता है। परिणामस्वरूप उन्हें वस्तुएँ (Things) कहा जाता है। इसके विपरीत बौद्धिक प्राणियों को मनुष्य या व्यक्ति (Person) कहा जाता है। इन्हें 'व्यक्ति' इसलिए कहा जाता है कि इनकी प्रकृति या मूल विशेषता इनको पहिले ही 'अपने आप में साध्य' के रूप में अन्य चीजों से पृथक् कर देती है। बौद्धिक प्राणी एक ऐसी चीज है जिसे कभी भी एक साधन के रूप में प्रयुक्त नहीं किया जाना चाहिए। बौद्धिक प्राणी के रूप में, मनुष्य की प्रकृति (स्वभाव) उसके मनचाहे प्रयोग किये जाने का निषेध करती है।

मनुष्य केवल विषयीगत साध्य नहीं है। अर्थात् यह एक ऐसा साध्य नहीं है जिसकी सत्ता उसके कर्मों के विषय के रूप में, केवल उसके लिये मूल्य रखती हो। मनुष्य वस्तुगत साध्य हैं अर्थात् वे ऐसी चीज हैं जिनकी सत्ता अपने आप में साध्य है। मनुष्य एक ऐसा साध्य है जिसकी जगह अन्य किसी भी साध्य को स्थानापन्न नहीं किया जा सकता। मनुष्य की जगह किसी साध्य को स्थानापन्न करने का अर्थ उन्हें उस स्थानापन्न साध्य का साधन-मात्र बना देना होगा। कांट की यह मान्यता है कि जब तक हम प्रत्येक बौद्धिक प्राणी को अपने आप में साध्य नहीं मानेंगे, तब तक हम कहीं भी परम मूल्यवान (बिना किसी अन्य चीज की अपेक्षा के, अपने आप में मूल्यवान) किसी भी वस्तु को प्राप्त नहीं कर पायेंगे। इसके विपरीत, यदि हम यह मानें कि समस्त मूल्य सापेक्ष अर्थात् संदिग्ध ही हैं, तो वैसी स्थिति में हम बुद्धि के लिये नैतिकता का कोई सर्वोच्च सिद्धान्त नहीं पा सकते।

मानव की गरिमा में विश्वास करने वाले कांट के मतानुसार यदि कोई सर्वोच्च सार्वभौमिक नैतिक सिद्धान्त है अथवा मानव-संकल्प के लिये यदि कोई निरपेक्ष आदेश है, तो उसे इस तरह का होना चाहिए कि वह प्रत्येक बौद्धिक प्राणी के लिये अनिवार्यरूप से साध्य किसी वस्तु के विचार से संकल्प के एक वस्तुगत सिद्धान्त का निर्माण करे तथा एक व्यावहारिक नियम के रूप में उपयोगी हो सके। यहाँ कांट ने स्पष्ट रूप से "सर्वोच्च व्यावहारिक सिद्धान्त" तथा उसके अनुरूप रहने वाले "निरपेक्ष आदेश" में भेद किया है। सर्वोच्च व्यावहारिक सिद्धान्त समस्त बौद्धिक प्राणियों के लिये प्रामाणिक होता है जबकि संवादी निरपेक्ष आदेश मानव अर्थात् संपूर्ण बौद्धिक कर्ता के लिये प्रामाणिक रहता है। अपनी अपूर्णताओं के कारण मनुष्य को अपने ही संकल्प के नियम, नियम के रूप में न ज्ञात होकर 'आदेश' के रूप में

ज्ञात होते हैं। कांट ने मनुष्य को "अपूर्ण रूप से बौद्धिक" इसलिये संबोधित किया है क्योंकि मनुष्य में केवलमात्र बुद्धितत्व ही नहीं है; अपितु उसमें इच्छायें, रुचियाँ, मूलप्रवृतियां आदि भी हैं, जो सामान्यतः बुद्धि-विरोधी होती हैं। कांट द्वारा किया गया उपर्युक्त भेद अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कांट के विचारानुसार व्यावहारिक नियम का आधार यह है कि "बौद्धिक प्रकृति (स्वभाव) की सत्ता अपने आप में साध्य है"। जब कोई मनुष्य अपनी सत्ता को अनिवार्यतः साध्य के रूप में देखता है, तब यह सिद्धान्त मानव कर्मों का "विषयीगत" सिद्धान्त कहा जाता है। पर अन्य सभी बौद्धिक प्राणी भी अपनी सत्ता को उसी बौद्धिक आधार पर साध्य के रूप में देखते हैं, जो आधार मेरे लिये भी प्रामाणिक है ऐसी स्थिति में, यह एक "वस्तुगत" सिद्धान्त है। सर्वोच्च व्यावहारिक आधार के रूप में स्थित इस वस्तुगत सिद्धान्त से, मानव-संकल्प के लिये आवश्यक, समस्त नैतिक नियमों का निर्गमन संभव है। अतः "व्यावहारिक आदेश" का स्वरूप निम्नलिखित होगा :

"इस तरह कर्म करो कि तुम मानवता को, चाहे अपने रूप में अथवा अन्य किसी भी मनुष्य में रूप में, केवल एक साधन जैसा न मानकर, सदैव उसी क्षण एक साध्य के रूप में मानों।"

यहां मानवता का तात्पर्य कांट "सामान्य बौद्धिक प्रकृति" से लेते हैं। हम केवल उसी बौद्धिक प्रकृति से परिचित होते हैं जो मानव में पाई जाती है अतः कांट ने "मानवता" शब्द का प्रयोग करना अनुचित न समझा। किन्तु वे 'मानवता' तथा "मानव" को पृथक्-पृथक् अवश्य मानते हैं। कांट ने उपर्युक्त सूत्र के उदाहरण दैनिक जीवन से प्रस्तुत कर उसकी व्यावहारिकता को प्रमाणित किया है।

सूत्र के दृष्टान्त

कांट कर्तव्य के पूर्वोक्त उदाहरणों को ही पुनः लेते हैं। पहला उदाहरण वे अपने प्रति किये जाने वाले कर्तव्य का लेते हैं। वे कहते हैं कि यदि हम "अपने आप में साध्य" वाला सिद्धान्त अपनी दृष्टि में रखें, तो आत्महत्या का विचार रखने वाला मनुष्य अपने आप से यह प्रश्न करेगा कि "क्या उसका कर्म इस विचार के अनुरूप हो सकता है कि मानवता अपने आप में साध्य है?" यदि वह मानव की अर्थात् अपनी कष्टदायक पीड़ामयी

स्थितियों से बचने के लिये आत्महत्या करता है, तो इसका यही अर्थ हुआ कि वह स्वयं से रूप में उपस्थित मनुष्य का प्रयोग केवल एक साधन के रूप में कर रहा है। किन्तु मनुष्य कोई वस्तु नहीं है जिसका प्रयोग केवल एक-एक साधन के रूप में किया जाये। उसे उसके प्रत्येक कर्म में सदैव "अपने आप में साध्य" के रूप में समझा जाना चाहिए। इस नियमानुसार, अपने रूप में सत्तावान मनुष्य की न तो मैं हत्या कर सकता हूँ, न उसकी अन्य कोई क्षति।

दूसरा उदाहरण वे दूसरों के प्रति किये जाने वाले पूर्ण कर्तव्य का लेते हैं। जो मनुष्य दूसरों से झूठा वायदा करने का विचार रखता है, यदि वह उपर्युक्त सूत्र को अपने कर्म पर लागू करे, तो वह यह पायेगा कि वह झूठा वायदा करने का विचार रख किसी अन्य मनुष्य को (जिससे वह झूठा वायदा करने जा रहा है) एक साध्य के साधन के रूप में प्रयुक्त करना चाहता है। यहाँ वह ऐसे साध्य के साधन के रूप में दूसरे मनुष्य का प्रयोग करता है, जिस साध्य का साझेदार वह दूसरा मनुष्य नहीं है, क्योंकि झूठा वायदा कर हम जिस मनुष्य को अपने निजी उद्देश्यों के लिए प्रयुक्त करना चाहते हैं वह कभी भी हमारे इस व्यवहार से सहमत नहीं हो सकता। इस प्रकार जो हमारा साध्य है वह उसका साध्य नहीं हो सकता। दूसरों के प्रति किये जाने वाले कर्तव्य तथा उपर्युक्त सिद्धान्त का विरोध तब और भी स्पष्ट रूप से हमारे सामने आता है जब कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन करता है अथवा दूसरों की सम्पति लूटता है। इन उदाहरणों में यह स्पष्ट दिखाई देता है कि मानव-अधिकारों का उल्लंघन करने वाला मनुष्य दूसरे मनुष्यों को केवल साधन के रूप में प्रयुक्त करने की इच्छा रखता है। ऐसा करते समय वह यह नहीं सोचता कि दूसरे मनुष्य भी बौद्धिक प्राणी हैं तथा बौद्धिक प्राणी के रूप में उन्हें सदैव उसी क्षण साध्य के रूप में समझा जाना चाहिए। एक और विधि है जिसकी सहायता से हम अपने कर्मों की विसंगति अथवा अशुभत्व जान सकते हैं। हमें अन्य बौद्धिक प्राणियों को ऐसे प्राणियों के रूप में देखना चाहिए को स्वयं भी हमारे उसी कर्म (झूठा वायदा करना) को साध्य के रूप में अपना सकते हैं और इस तरह हमारा प्रयोग भी अपने साध्य के साधन के रूप में कर सकते हैं। जब हम इस तरह विचार करेंगे और अपने को 'साधन' बनाये जाने की संभावना से परिचित होंगे, तो तत्काल ही हमें अपने कर्म के अनैतिक होने का सत्य ज्ञात हो जायेगा। प्रश्न यह है कि जब हम स्वयं किसी अन्य बौद्धिक प्राणी के लिये 'साधक' नहीं बनना चाहते, तो अन्य किसी बौद्धिक प्राणी अथवा बौद्धिक प्राणियों को साधन बनाने का हमें क्या अधिकार है।

अपने प्रति किये जाने वाले अपूर्ण कर्तव्य का दृष्टान्त देते हुए कांट कहते हैं कि केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है कि हमारा कोई कर्म मानवता को साध्य मानने वाले उपर्युक्त सूत्र के विरुद्ध नहीं जाना चाहिए। यह भी आवश्यक है कि इस सूत्र के साथ हमारे प्रत्येक कर्म का सामंजस्य हो। कांट यह स्वीकार करते हैं कि हम में अर्थात् समस्त मानवों में अनेक योग्यतायें रहती हैं। इन योग्यताओं को अधिक से अधिक पूर्ण बनाना अर्थात् उनका अधिकाधिक विकास करना मानवता के लिये प्रकृति का उद्देश्य है। यदि हम इन सामथ्य या शक्तियों का तिरस्कार करते हैं, तो उपर्युक्त सिद्धान्त (अपने आप में साध्य के रूप में मानवता की रक्षा करना) तो संभव है; किन्तु इस साध्य की उन्नति असंभव है। यहां हमें "मानवता के लिये प्रकृति के उद्देश्य अथवा साध्य" तथा उस "प्राकृतिक उद्देश्य अथवा साध्य" में भेद करना चाहिए, जिसे सभी मनुष्य चाहते हैं। प्रकृति के उद्देश्य का प्रत्यय यह स्वीकार करता है कि प्रकृति का कोई अंतिम साध्य या प्रयोजन है जिसे स्वयं प्रकृति में नहीं पाया जाता। मनुष्य के प्राकृतिक उद्देश्य का प्रत्यय प्रकृति के निरीक्षण पर आधारित रहता है तथा उसे इस प्रकार के निरीक्षण द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है।

चौथा उदाहरण कांट दूसरों के प्रति किये जाने वाले विशेष कर्तव्यों का देते हैं। समस्त मानवों का स्वाभाविक साध्य स्वयं का निजी सुख है। अब यदि प्रत्येक मनुष्य केवल अपने ही सुख को परम माने; अन्य मनुष्यों के सुख के लिये भी योगदान न करे; किन्तु अन्य मनुष्यों के सुख में बाधक भी न बने, तो निःसंदेह मानवता रह सकती है। तथापि यह "अपने आप में साध्य मानवता" के सिद्धान्त की भावात्मक स्वीकृति न होकर, अभावात्मक (Negative) स्वीकृति होगी। उपर्युक्त सूत्र—"अपने आप में साध्य मानवता"—के साथ हमारी भावात्मक सहमति तभी कही जायेगी, जब हम अपनी सामर्थ्यानुसार अन्य मनुष्यों के साध्यों (यहाँ पर सुख) के लिए भी प्रयास करेंगे। स्मरणीय है कि प्रत्येक बौद्धिक प्राणी अपने आप में साध्य है अतः किसी भी बौद्धिक प्राणी के साध्य किसी अन्य बौद्धिक प्राणी जैसे मेरे, साध्य भी हो सकते हैं। इतना ही नहीं वे हमारे साध्य होना चाहिए।

नैतिकता के तीन सूत्रों की चर्चा करने के बाद कांट नैतिकता के चतुर्थ सूत्र की चर्चा "स्वातंत्र्य का सूत्र" शीर्षक के अन्तर्गत करते हैं। पहिले तीन सूत्र क्रमशः निम्नलिखित हैं :

(१) सार्वभौमिक नियम का सूत्र।

(२) प्रकृति के नियम का सूत्र ।
(३) अपने आप में साध्य होने का सूत्र ।

स्वातन्त्र्य का सूत्र

"प्रत्येक बौद्धिक कर्ता अपने आप में एक साध्य है" यह सिद्धान्त, कांट की दृष्टि में, प्रत्येक मनुष्य के कर्म की स्वतंत्रता को सीमित करने वाली सर्वोच्च शर्त है । इस सिद्धान्त को हम इन्द्रियों के माध्यम से अथवा इन्द्रियानुभव द्वारा प्राप्त नहीं करते । इसका पहला कारण तो यह है कि यह सिद्धान्त सार्वभौमिक है अर्थात् समस्त बौद्धिक प्राणियों पर लागू होता है, जबकि कोई भी इन्द्रियानुभव 'सार्वभौमिकता' को निर्धारित करने के लिये उपयुक्त नहीं है। इन्द्रिय-अनुभव सदैव 'विशेष' होता है, वह कभी भी सार्वभौमिक नहीं हो सकता । दूसरा कारण यह है कि इस सिद्धान्त में मानवता को विषयीगत रूप से साध्य नहीं कहा गया है। इसमें मानव को 'वस्तुगत साध्य' के रूप में देखा गया है । हमारे अनेक साध्य हो सकते हैं, पर मानव एक ऐसा वस्तुगत साध्य है जो एक सार्वभौमिक नियम के रूप में, समस्त विषयीगत साध्यों को सीमित करने वाली सर्वोच्च शर्त का निर्माण करता है। अतः इस सिद्धान्त को विशुद्ध बुद्धि से उद्भूत होना चाहिए ।

कांट द्वारा बताया गया नैतिकता का चतुर्थ व्यावहारिक सिद्धान्त अथवा स्वातंत्र्य का सूत्र निम्निलिखित है :

"इस तरह कर्म करो कि तुम्हारा संकल्प, अपने विषयीगत सिद्धान्तों के माध्यम से, अपने आपको उसी क्षण, सार्वभौमिक नियम का निर्माण करने वाला समझे ।"

प्रथम दृष्टि में यह सूत्र सार्वभौमिक नियम के सूत्र की पुनरावृति मात्र प्रतीत हो सकता है; किन्तु ध्यान से देखें तो यह उससे भिन्न है। यह सूत्र स्पष्ट रूप से यह दर्शाता है कि निरपेक्ष आदेश हमें केवल सार्वभौमिक नियम का पालन करने के लिये ही नहीं बाध्य करता, अपितु वह हमें ऐसे सार्वभौमिक नियम के पालन के लिए बाध्य करता है जिसे बौद्धिक कर्ता के रूप में हम स्वयं ही निर्मित करते हैं। अपने ही द्वारा निर्मित इस सार्वभौमिक नियम को हम अपने विषयीगत सिद्धान्त के माध्यम से "विशेष" के रूप में परिणत करते हैं । कांट के मतानुसार, नैतिकता के सर्वोच्च सिद्धांत का यह सूत्रीकरण अन्य सभी सूत्रों के अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह सीधे स्वतंत्रता (freedom) के 'निरुपाधिक प्रत्यय' (Idea) की ओर ले जाता है। हम नैतिक नियम के

अधीन केवल इसलिये हैं कि बौद्धिक कर्ताओं के रूप में यह हमारे निजी स्वभाव की अनिवार्य अभिव्यक्ति है।

'स्वतंत्र्य का सूत्र'[1] सार्वभौमिक नियम के सूत्र तथा "अपने आप में साध्य मानवता" के सूत्र को परस्पर सम्बद्ध करने पर निर्गमित होता है। हम यह पहिले ही देख चुके हैं कि सार्वभौमिकता के कारण हम नैतिक नियम का पालन करने के लिये विवश हैं। नैतिक नियम के संदर्भ में जब "सार्वभौमिकता" शब्द का प्रयोग किया जाता है, तो उसका अर्थ "समस्त बौद्धिक प्राणियों के लिये उसकी वस्तुगत प्रमाणिकता" से रहता है। हम यह भी देख चुके हैं कि ज्ञाताओं के रूप में बौद्धिक कर्ता इस निरपेक्ष आदेश के आधार हैं। यदि वस्तुतः ऐसा ही है तो जिन नियमों का पालन करने के किये हम बाध्य हैं वे हमारी ही संकल्प-शक्ति के उत्पाद्य होना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि निरपेक्ष आदेश प्रत्येक वौद्धिक प्राणी के संकल्प के ऐसे निरुपाधिक प्रत्यय पर आश्रित है जिसके अनुसार बौद्धिक प्राणी का संकल्प ही सार्वभौमिक नियमों का निर्माता है।

इसी बात को कांट ने और भी सरल तरीके से समझाया है। वे कहते हैं कि किसी बौद्धिक प्राणी के विषयीगत सिद्धान्तों की सार्वभौमिक नियम बन सकने की सामर्थ्य यह दर्शाती है कि वे अपने आप में साध्य हैं। यदि एक बौद्धिक कर्ता वस्तुतः अपने आप में एक साध्य है तो वह अवश्य ही उन नियमों का उत्पादक होना चाहिए जिनका पालन करने के लिये वह बाध्य है। नियमों का निर्माता होने की मानव की सामर्थ्य उसे सर्वोच्च मूल्य अथवा "गरिमा" प्रदान करती है।

स्वातंत्र्य के इस सिद्धान्तानुसार उन सभी विषयीगत सिद्धान्तों का परित्याग किया जाता है, जो संकल्प द्वारा निर्मित सार्वभौमिक नियम के अनुरूप नहीं हो सकते। इस तरह मानव के संकल्प के संबंध में केवल यह नहीं मानना चाहिए कि वह नियम के अधीन रहता है; किन्तु यह भी जानना चाहिए कि वह अपने नियम का निर्मायक भी स्वयं है। अपने नियम का निर्मायक होने के कारण ही वह उस नियम के अधीन रहता है। इस तरह संकल्प सार्वभौमिक नियम का उत्पादक स्वयं है।

---

(१) कांट इसे "तृतीय" सूत्र कहते हैं। वे "प्रकृति के नियम" के सूत्र को पृथक् सूत्र स्वीकार न करके, "सार्वभौमिक नियम" के सूत्र के अन्तर्गत ही उसका समावेश कर देते हैं। मैंने इसे संख्या की दृष्टि से ही "चतुर्थ" कहा है।

स्वार्थ का बहिष्कार

कांट कहते हैं कि निरपेक्ष आदेश हर प्रकार के स्वार्थ का बहिष्कार करता है। यह केवल इतना बताता है कि "मुझे अमुक कर्म करना चाहिए"। निरपेक्ष आदेश यह नहीं कहता कि "यदि मुझे अमुक चीज की इच्छा हो, तब ही अमुक कर्म करना चाहिए"। पहिले हम जितने भी सूत्रों की चर्चा कर चुके हैं उन सब में यही सत्य ध्वनित होता है। इसका कारण यह है कि वे सभी सूत्र "निरपेक्ष" माने जाने वाले आदेश के ही सूत्र हैं। पहिले जिन सूत्रों का उल्लेख किया गया है, वे हैं—सार्वभौमिक नियम का सूत्र, प्रकृति के नियम का सूत्र तथा बौद्धिक प्राणियों के अपने आप में साध्य होने का सूत्र। ये सभी सूत्र अव्यक्त रूप से यह बताते हैं कि निरपेक्ष आदेश किसी भी स्वार्थ को प्रेरक के रूप में स्वीकार नहीं करता। उनमें ध्वनित होने वाला यह तथ्य "स्वातंत्र्य के सूत्र" में व्यक्त अथवा स्पष्ट हो जाता है। हम नैतिक आदेशों को 'निरपेक्ष' मान लेते हैं। नैतिक आदेशों के निरपेक्ष होने की पूर्वमान्यता (assumption) को स्वीकार करने के लिये हम इसलिये विवश हैं क्योंकि उन्हें निरपेक्ष माने बिना हम कर्तव्य के प्रत्यय को नहीं समझा सकते। पूर्वोक्त सूत्र अपने आप यह प्रमाणित नहीं कर सके थे कि नैतिक आदेश 'निरपेक्ष' हैं। उनमें यह सत्य 'ध्वनित' तो अवश्य होता था; किन्तु वे उसे "प्रमाणित" नहीं कर सके थे। "स्वातंत्र्य से सूत्र" में यह प्रमाणित हो जाता है कि वे "निरपेक्ष" हैं। यह सूत्र यह भी स्पष्ट कर देता है कि वे किस अर्थ में निरपेक्ष हैं। पहिले प्रस्तुत किये गये सूत्र केवल यह दर्शा सके हैं कि कर्तव्य-भावना से किये गये कर्म में समस्त स्वार्थ (interest) का त्याग किया जाता है तथा यही विशेषता 'सापेक्ष आदेश' से 'निरपेक्ष' आदेश को पृथक् करती है। किन्तु कांट हमें सभी स्वार्थों का त्याग करने के लिये नहीं कहते। उदाहरणार्थ, वे यह मानते हैं कि अपने सुख की खोज करना हमारा अधिकार ही नहीं, अपितु अप्रत्यक्ष कर्तव्य भी है। वस्तुतः यहाँ "स्वार्थों के त्याग" से उनका तात्पर्य निरपेक्ष आदेशों का" स्वार्थ पर आधृत न होना" है। वे दावा करते हैं कि निरपेक्ष आदेश किसी भी स्वार्थ पर आधारित नहीं हो सकते। उन्हें स्वार्थाश्रित सिद्ध करना उनकी निरपेक्षता को कलंकित करना है। कर्तव्य संबधी हमारे निर्णय कभी भी हमारे स्वार्थों द्वारा प्रभावित नहीं होना चाहिए। इसी अर्थ में कांट समस्त स्वार्थों के त्याग की बात करते हैं।

स्वातंत्र्य के सूत्रानुसार प्रत्येक बौद्धिक प्राणी का संकल्प एक ऐसा संकल्प है जो स्वय ही अपने सार्वभौमिक नियम का निर्माण करता है। यह अपने

सार्वभौमिक नियम के निर्माण के लिये किसी अन्य पर आश्रित नहीं है अतः निरपेक्ष है। यही कारण है कि इसके नियम भी निरपेक्ष होते हैं।

इस प्रकार के संकल्प पर ध्यान देते पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जो संकल्प किसी अन्य नियम के अधीन होता है वह किसी स्वार्थ के कारण फल-स्वरूप स्वार्थ के द्वारा ही उस नियम के अधीन हुआ करता है। इसके विपरीत जो संकल्प अपने आप ही नियम का सर्वोच्च निर्माता है, उसका किसी स्वार्थ पर आश्रित होना संभव नहीं है।

कांट इस परिकल्पना की चर्चा करते हैं कि "हम केवल स्वार्थवश नैतिक नियमों का पालन करते हैं। "जो नीतिशास्त्री इस परिकल्पना को सत्य मानते हैं उनके विरुद्ध तर्क करते हुए कांट कहते हैं कि स्वार्थप्रेरित संकल्प तब तक कोई उचित या शुभ कर्म नहीं कर सकता, जब तक वह अन्य किसी नियम द्वारा वैसा करने के लिये बाध्य न किया जाये। यह नियम नैतिकता का सार्वभौमिक नियम होगा जिसके अनुसार "हमें स्वार्थ सम्बन्धी केवल उन्हीं विषयीगत सिद्धान्तों के अनुसार कर्म करना चाहिए, जो उसी समय सार्वभौमिक नियम के रूप में स्वीकार किये जा सकते हों। "इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जो संकल्प स्वार्थ द्वारा प्रेरित होता है, वह न कभी सर्वो-त्कृष्ट नैतिक नियम का दाता हो सकता है, और न वह सार्वभौमिक नियम बना सकता है। इस दृष्टि से यह सिद्धान्त कि "प्रत्येक मानव-संकल्प एक ऐसा संकल्प है जो अपने समस्त विषयीगत नियमों के द्वारा एक सार्वभौमिक नियम का निर्माण करता है", निरपेक्ष आदेश बनने के योग्य है। वह निरपेक्ष आदेश इसलिये है कि इसमें सार्वभौमिक नियम के निर्माण का विचार किसी स्वार्थ पर आधारित नहीं है। परिणामतः केवल यही अन्य समस्त संभव आदेशों में "निरुपाधिक" हो सकता है। इसी बात को हम इस तरह भी कह सकते हैं कि यदि निरपेक्ष आदेश की सत्ता है, तो वह सदैव हमें उस संकल्प के विषयीगत नियमों के आधार पर कर्म करने की आज्ञा दे सकता है, जो सार्वभौमिक नियमों के निर्माता के रूप में अपने को जानता हो। केवल इसी प्रकार का संकल्प हमें निरपेक्ष आदेश दे सकता है, क्योंकि यह किसी स्वार्थ की सापेक्षता में कर्म करने की आज्ञा नहीं देता।

समय-समय पर नैतिकता के सिद्धान्त का अन्वेषण नीतिशास्त्री करते रहे हैं। अन्वेषण के कुछ प्रयास यह तो मानकर चलते हैं कि मनुष्य नैतिक नियमों का पालन करने के लिये कर्तव्य द्वारा बाध्य है; किन्तु इनमें यह नहीं दर्शाया जाता कि मनुष्य कर्तव्य द्वारा जिन नियमों का पालन करने के लिये बाध्य है वह स्वयं उसी के द्वारा बनाये गये हैं, फिर भी "सार्वभौमिक" हैं।

ये नीतिशास्त्री यह भी नहीं बताते कि मनुष्य केवल उसी संकल्प के अनुरूप कर्म करने के लिये बाध्य है जिस संकल्प के लिये सार्वभौमिक नियम का निर्माण करना, प्रकृति के एक उद्देश्य की पूर्ति करना है। जो नीतिशास्त्री यह तो मानते हैं कि मनुष्य नैतिक नियम के अधीन है, पर यह नहीं मानते कि उस नैतिक नियम का निर्माता भी वह स्वयं है, वे नैतिकता के सर्वोच्च नियम को किसी न किसी स्वार्थ पर आधारित कर देते हैं। इस तरह वे समस्त नीतिदार्शनिक जो "नैतिक बाध्यता" या "कर्तव्य" की व्याख्या किसी प्रकार के स्वार्थ द्वारा करने की चेष्टा करते हैं, न केवल निरपेक्ष आदेश को अचिन्त्य बनाते हैं वरन् वे नैतिकता को ही पूर्णतः अस्वीकार कर देते हैं। कांट आरोप लगाते हैं कि ये नीतिशास्त्री "नैतिक बाध्यता" के स्थान पर "स्वार्थाश्रित बाध्यता" की चर्चा करते हैं। यह ठीक है कि स्वार्थ (interest) निजी भी हो सकता है, दूसरे व्यक्ति का भी हो सकता है तथा अन्य अनेक लोगों का भी हो सकता है; किन्तु यह सत्य है कि स्वार्थ पर आश्रित आदेश सदैव सापेक्ष होगा। सापेक्ष होने के कारण वह कभी भी नैतिक नियम नहीं हो सकता। कांट के शब्दों में, स्वार्थ पर नैतिकता को आश्रित करने वाले सभी नीतिशास्त्रीय सिद्धान्त "पारतंत्र्य (Heteronomy) के सिद्धान्त" का प्रतिपादन करते हैं। इस प्रकार के नैतिकता संबंधी तथाकथित सिद्धांत, अनैतिक अथवा सापेक्ष आदेशों को जन्म देते हैं।

साध्यों के साम्राज्य का सूत्र
(The Formula of the Kingdom of Ends)

प्रत्येक बौद्धिक प्राणी अपने संकल्प के विषयीगत नियमों के माध्यम से सार्वभौमिक नैतिक नियम का निर्माता स्वयं ही है तथा उसे कर्म संबंधी अपने सभी निर्णय इसी दृष्टिकोण से लेना चाहिए, यह विचार हमें "साध्यों के साम्राज्य" के प्रत्यय की ओर ले जाता है।

"साम्राज्य" से कांट का तात्पर्य सामान्य नियमों का पालन करने वाले विभिन्न बौद्धिक प्राणियों के व्यवस्थित संघ से है। चूँकि समस्त बौद्धिक कर्ता ऐसे सार्वभौमिक नियमों के अधीन हैं जिनका निर्माण वे स्वयं करते हैं अतः इस दृष्टि से वे एक 'साम्राज्य' का निर्माण करते हैं। और चूँकि सार्वभौमिक नियम उन्हें इस बात के लिए बाध्य करता है कि वे दूसरों को अपने आप में साध्य मानकर उनसे समुचित व्यवहार करें अतः इस दृष्टि से सभी बौद्धिक प्राणी अपने आप में साध्य हैं तथा उनसे निर्मित साम्राज्य "साध्यों

का साम्राज्य" है। "साध्य" के प्रत्यय के अन्तर्गत अपने आप में साध्य अर्थात् बौद्धिक प्राणी ही नहीं आते, अपितु वे व्यक्तिगत साध्य भी इसमें सम्मिलित हैं जिन्हें प्रत्येक बौद्धिक प्राणी सार्वभौमिक नियम के अनुरूप होने पर अपने सामने रखता है।

समस्त बौद्धिक प्राणियों पर यह नियम समान रूप से लागू होता है कि उनमें से प्रत्येक को, न केवल स्वयं को वरन् अन्य बौद्धिक प्राणियों को भी, कभी भी एक साधन के रूप में न देखकर, सदैव उसी क्षण, 'अपने आप में साध्य' के रूप में देखना चाहिए। प्रत्येक बौद्धिक प्राणी को इसी नियमानुसार व्यवहार करना चाहिए। इस तरह एक ऐसे व्यवस्थित संघ का उदय होता है जिनमें सभी बौद्धिक प्राणी कुछ निश्चित सामान्य वस्तुगत नियमों का पालन करते हैं। चूँकि ये वस्तुगत नियम "अपने आप में साध्य" बौद्धिक प्राणियों के पारस्परिक संबंध की ओर संकेत करते हैं अतः ऐसे साम्राज्य को साध्यों का साम्राज्य कहा जा सकता है। कांट यह स्वीकार करते हैं कि साध्यों का ऐसा साम्राज्य वस्तुतः एक "आदर्श" है अर्थात् वस्तुजग में इस प्रकार के साम्राज्य की सत्ता नहीं है।

फिर भी उनकी यह मान्यता है कि प्रत्येक बौद्धिक प्राणी इन साध्यों के साम्राज्य का एक "सदस्य" है, क्योंकि वह सार्वभौमिक नियमों के अधीन है। सदस्य होने के साथ ही वह इस साम्राज्य का "अध्यक्ष" भी है। अध्यक्ष वह इस दृष्टि से है कि इस साम्राज्य में प्रचलित सार्वभौमिक नियमों का निर्माता स्वयं उसका ही संकल्प है। नियमों का निर्माता होने की सामर्थ्य उसे "अध्यक्ष" घोषित करती है। दूसरी ओर इन सार्वभौमिक नियमों का पालन करने की बाध्यता उसे "सदस्य" सिद्ध करती है।

साध्यों के साम्राज्य का यह सूत्र संकल्प-स्वातंत्र्य के सूत्र से घनिष्ठ रूप से संबंधित है। कांट के नीतिशास्त्र के अनुसार, प्रत्येक बौद्धिक प्राणी को नियमों का निर्माता समझा जाना चाहिए, फिर चाहे हम उसे सदस्य के रूप में नियमों का निर्माता मानें अथवा अध्यक्ष के रूप में। बौद्धिक प्राणी साध्यों के साम्राज्य का अध्यक्ष तभी हो सकता है, जब वह पूर्णतः 'स्वतन्त्र' प्राणी हो; जब उसकी कुछ भी आवश्यकताएं न हों तथा जब उसके संकल्प में असीमित शक्ति हो। इस सन्दर्भ में कुछ विद्वान कहते हैं कि कांट के अनुसार हमें साध्यों के साम्राज्य के सदस्यों तथा सर्वोच्च अध्यक्ष में भेद करना चाहिए। सदस्य हैं —समस्त ससीम बौद्धिक कर्ता। इस साम्राज्य का अध्यक्ष है—एक असीम बौद्धिक कर्ता। किन्तु कांट कहीं भी स्पष्ट रूप से यह नहीं कहते कि क्या इस "असीम बौद्धिक कर्ता" से उनका तात्पर्य "ईश्वर" से है।

उपर्युक्त चर्चा से हम साध्यों के साम्राज्य के इस सूत्र पर पहुँचते हैं कि "इस तरह कर्म करो मानों तुम अपने विषयीगत नियमों के माध्यम से साध्यों के साम्राज्य के नियम-निर्माता सदस्य हो।"

स्मरणीय है कि जब विषयीगत सिद्धान्तों का वस्तुगत सिद्धान्तों से विरोध रहता है, तब वस्तुगत सिद्धान्त के आधार पर कर्म करने की अनिवार्यता "व्यावहारिक बाध्यता" अथवा "कर्तव्य" कहलाती है। जब विषयीगत तथा वस्तुगत सिद्धान्त में कोई विरोध नहीं रहता तब वस्तुगत सिद्धान्त के आधार पर कर्म करना 'बाध्यता' न होकर, "स्वभाव" होता है। इसी कारण कांट यह कहते हैं कि साध्यों के साम्राज्य के अध्यक्ष के संदर्भ में 'कर्तव्य' का प्रश्न नहीं उठता। कर्तव्य का प्रत्यय उसके प्रत्येक सदस्य पर लागू होता है और समान रूप से समस्त सदस्यों पर लागू होता है।

सार्वभौमिक सिद्धान्ताधार पर कर्म करने की "व्यावहारिक बाध्यता" या 'कर्तव्य' किसी भी तरह अनुभूतियों, प्रवृत्तियों, अभिप्रेरणाओं तथा अबौद्धिक इच्छाओं पर आधारित नहीं होता। वह बौद्धिक प्राणियों के ऐसे पारस्परिक संबंध पर आश्रित रहता है, जिस संबंधानुसार प्रत्येक बौद्धिक प्राणी के संकल्प को सार्वभौमिक नियम के निर्माता के रूप में देखना आवश्यक है। वह इसलिये कि यदि नियम-निर्माता के रूप में संकल्प को न देखा जाये, तो बौद्धिक प्राणी कभी भी अपने आप में साध्य के रूप में नहीं जाना जा सकता। इस तरह बुद्धि संकल्प को सार्वभौमिक नियम के निर्माता के रूप में प्रस्तुत कर, संकल्प के प्रत्येक विषयीगत सिद्धांत को दूसरे संकल्प से संबंधित करती है। ऐसा बुद्धि किसी भावी लाभ अथवा अन्य किसी प्रेरक के कारण नहीं करती, अपितु वह बौद्धिक प्राणी की गरिमा के विचार से ऐसा करती है। बौद्धिक प्राणी के रूप में मानव की गरिमा इसलिए है, क्योंकि वह केवल उन्हीं नियमों का पालन करता है जिनका निर्माण उसने स्वयं ही किया है। इस तरह साध्यों के साम्राज्य के नियम-निर्मायक सदस्य के रूप में बौधिक प्राणी में एक आंतरिक, निरुपाधिक तथा अद्वितीय योग्यता पाई जाती है जिसे "गरिमा" कहकर सम्बोधित किया जाता है। आगे इसी गरिमा के विषय में कांट चर्चा करते हैं।

सद्गुण की गरिमा

(The Dignity of Virtue)

कांट बताते हैं कि साध्यों के साम्राज्य में प्रत्येक वस्तु में या तो कीमत (Price) पाई जाती है, अथवा गरिमा। यदि किसी वस्तु की कीमत या दाम

हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि इस वस्तु के स्थान पर इसके समतुल्य अन्य कोई वस्तु रखी जा सकती है। यदि कोई वस्तु समस्त कीमतों के परे हो तथा इसी कारण इसकी कोई समतुल्य वस्तु न हो, तो ऐसी वस्तु में 'गरिमा' पाई जाती है।

कांट कहते हैं कि जो कुछ भी सार्वभौमिक मानव-प्रवृत्तियों तथा आवश्यकताओं के सापेक्ष है, उस सब में "बाजार मूल्य" होता है। कुछ वस्तुएँ ऐसी भी होती हैं जिनका संबंध किसी मानवीय आवश्यकता से नहीं रहता। उनका संबंध हमारी मानसिक शक्तियों के उद्देश्यहीन खेल में पाए जाने वाले संतोष से रहता है। इस प्रकार की वस्तुओं में "काल्पनिक मूल्य" पाया जाता है। स्मरणीय है कि कांट का यह विचार उनके ही सौन्दर्यशास्त्रीय सिद्धांत से संबंधित है। यहाँ काल्पनिक मूल्य का अर्थ कल्पना के या शौक के मूल्य से है। इनका संबंध हमारी आवश्यकताओं से नहीं रहता; किन्तु हमारे मन के संतोष अथवा खुशी से रहता है। इस तरह उपर्युक्त दोनों प्रकार की वस्तुओं में "सापेक्ष मूल्य" पाया जाता है। पहिले प्रकार की वस्तुओं का मूल्य अन्य समतुल्य वस्तुओं के मूल्य की अपेक्षा रखता है तथा दूसरे प्रकार का मूल्य मन के सुख व संतोष की अपेक्षा रखता है। केवल नैतिकता अथवा सद्गुण में "गरिमा" पाई जाती है। यह गरिमा मानवता में भी पाई जाती है; किन्तु यह मानवता में केवल उसी सीमा तक पाई जा सकती है जिस सीमा तक मानवता नैतिकता का पालन करती है। इस दृष्टि से नैतिकता अथवा सद्गुण की तुलना न तो बाजार मूल्य रखने वाली वस्तुओं से की जा सकती है, और न ही काल्पनिक मूल्य रखने वाली वस्तुओं से।

नैतिकता ही केवल एक ऐसी शर्त है जिसके अन्तर्गत एक बौद्धिक प्राणी अपने आप में साध्य हो सकता है; क्योंकि केवल इसी के माध्यम से उसका साध्यों के साम्राज्य में एक नियम-निर्माता के रूप में रहना संभव है। इस तरह गरिमा केवल नैतिकता अथवा नैतिक होने में समर्थ मानवता, में ही पाई जाती है। कर्म-चातुर्य तथा उद्यम का बाजार मूल्य होता है जबकि प्रत्युत्-पन्नमति, सृजनात्मक कल्पना तथा रसिकता आदि का काल्पनिक मूल्य होता है। इसके विपरीत, वायदों के प्रति निष्ठा तथा सिद्धान्ताश्रित करुणा में आंतरिक मूल्य पाया जाता है। कांट इतना तक मानते हैं कि प्रकृति तथा ललित कलाओं में भी वह मूल्य नहीं पाया जाता जिसे "गरिमा" कहा जा सके। इस तरह कांट गरिमा या नैतिक मूल्य को सौन्दर्यात्मक मूल्य से भी कहीं अधिक ऊंचा मानते हैं। वायदों के प्रति निष्ठा तथा सिद्धान्त पर आश्रित करुणा इत्यादि कर्तव्यों में जो मूल्य है, वह उन परिणामों पर आश्रित नहीं

है, जो उनके पालन करने पर प्राप्त होते हैं। न ही उनका मूल्य उस लाभ या फायदे में निहित है जो वे प्रदान करते हैं। वस्तुतः कर्तव्य या नैतिक कर्मों का मूल्य मन की अभिवृति (attitude of mind) में निहित रहता है। कर्म की सफलता अथवा असफलता से नैतिक कर्म के मूल्य में कोई अंतर नहीं आता है। नैतिक कर्मों की स्वीकृति व सहज या तात्कालिक अनुमति के लिये किसी विपर्यीगत जन्मजात प्रवृति (Disposition) अथवा रुचि की संस्तुति आवश्यक नहीं है। इतना ही नहीं, नैतिक कर्मों को अपनी स्वीकृति के लिये सहज अनुभूति व रुझान आवश्यकता भी नहीं रहती। नैतिक कर्म केवल उस संकल्प की ओर संकेत करते हैं जो उन्हें "सहज श्रद्धा" का विषय मान, उसी रूप में उन्हें क्रियान्वित करता है।

केवल बुद्धि ही नैतिक कर्म को 'संकल्प' के स्तर पर उतारती है। दूसरे शब्दों में, उन्हें संकल्प के स्तर पर लाने के लिए अन्य किसी भी चीज की नहीं, किन्तु केवल बुद्धि की अपेक्षा रहती है। संकल्प के स्तर पर उतारने का अर्थ केवल यह है कि बुद्धि ही हमारे संकल्प को इन कर्मों को करने के लिए बाध्य कर सकती है। हमारी आवश्यकताएं, हमारी रुचियाँ, परिणाम, दूरदर्शिता व लाभ आदि हमारे संकल्प को नैतिक कर्म करने के लिए बाध्य कर सकते, क्योंकि ये कर्म हमारी जन्मजात प्रवृत्तियों, आवश्यकताओं तथा इच्छाओं आदि पर आश्रित नहीं होते हैं। यदि हम नैतिक कर्मों का आधार बुद्धि को न मानें, तो कर्तव्यों की चर्चा करते समय हम अनेक विरोधों व आत्म-विरोधों में फंस जाते हैं। उदाहरणार्थ, मान लीजिए कि बुद्धि के स्थान पर हम "अभीष्ट सिद्धि" को नैतिक कर्मों का आधार मानते हैं। अब यदि एक डॉक्टर अपने किसी मरीज के जीवन को बचाने के लिए उसे एक इन्जैक्शन लगाता है किन्तु दुर्भाग्यवश मरीज मर जाता है, तो क्या इससे डॉक्टर के कर्म को अनैतिक कहा जाना चाहिए? कदापि नहीं। दूसरी ओर, अपनी पतिव्रता पत्नी की हत्या करने के उद्देश्य, से उसका पति उसके खाने में जहर मिला देता है, जिसे खाकर वह मर जाती है, तो क्या अभीष्ट-सिद्धि के कारण हम उसके पति के कर्म को नैतिक कह सकते हैं? कदापि नहीं। यदि अभीष्ट-सिद्धि को नैतिकता की कसौटी माना जाये, तो डॉक्टर का कर्म अनैतिक व जहर देने वाले पति का कर्म नैतिक सिद्ध होगा जबकि वस्तुतः ऐसा नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि बुद्धि को छोड़ हम यदि किसी भी अन्य चीज पर नैतिकता को आधारित करते हैं तो आत्म-विरोधों में फंस जाते हैं। इस तरह मूल्य या गरिमा वस्तुतः हमारी निर्मल मानसिक अभिवृति अथवा मनोवृति में निहित है। निर्मल मान-

सिक अभिवृति की तुलना अन्य किसी भी चीज से करना उसकी पवित्रता को दूषित करना है ।

प्रश्न उठता है कि नैतिक रूप से शुभ मानसिक अभिवृति अथवा सद्गुण को यह गरिमा कौन प्रदान करता है ? इसी बात को इस तरह से भी पूछा जा सकता है कि वह क्या है जो नैतिक व्यक्ति को गरिमा प्रदान करता है ? वस्तुतः साध्यों के संभाव्य साम्राज्य के सदस्य के रूप में, सार्वभौमिक नियम का निर्माता होने की मानव की विशेषता ही उसे यह गरिमा प्रदान करती है । अपने विषयीगत नियमों के माध्यम से एक सार्वभौमिक नियम का निर्माण करने में प्रत्येक बौद्धिक प्राणी सम्मिलत होता है। इस तरह हम पाते हैं कि स्वातंत्र्य (संकल्प-स्वातंत्र्य) ही मनुष्य अथवा बौद्धिक स्वभाव की गरिमा का आधार है । आगे बढ़ने के पूर्व कांट एक बार पुनः सूत्रों की चर्चा करते हैं ।

सूत्रों का पुनरावलोकन

कांट कहते हैं कि नैतिकता के सिद्धांत का वर्णन करने वाले पूर्वोक्त चारों तरीके (सूत्र) वस्तुतः अथवा अंततः एक ही नियम के विभिन्न सूत्रीकरण हैं । इनमें से प्रत्येक सूत्र अन्य सूत्रों से सहज रूप से संयुक्त रहता है । पुनरावलोकन कर कांट निम्नलिखित तीन सूत्रों की चर्चा करते हैं :

(१) प्रकृति के नियम का सूत्र ।
(२) अपने आप में साध्य होने का सूत्र ।
(३) साध्यों के साम्राज्य का सूत्र ।

वे मानते हैं कि यद्यपि उपर्युक्त तीनों सूत्र परस्पर घनिष्ठ रूप से संबंधित है, किन्तु फिर भी इनमें अंतर है । यह अंतर वस्तुगत रूप से व्यावहारिक होने की अपेक्षा, विषयीगत दृष्टि से अधिक व्यावहारिक है । कहने का तात्पर्य यह है कि इन सूत्रों का उद्देश्य बुद्धि के निरुपाधिक प्रत्यय को अन्तर्बोध (या कल्पना) के समीप लाना है । इस तरह उनका उद्देश्य बुद्धि को अनुभूति (feeling) के और अधिक समीप लाना है। कांट के मतानुसार, समस्त विषयीगत सिद्धान्तों में तीन बातें पाई जाती हैं । वे हैं :

(१) आकार (Form)
(२) सामग्री (Matter)
(३) पूर्ण निर्धारण (Full Determination)

पहला अथवा प्रकृति के नियम का सूत्र विषयीगत नैतिक नियम के 'आकार' से संबंधित है । विषयीगत नैतिक नियम का आकार उसकी "सार्वभौमिकता" अतः यह उसकी सार्वभौमिकता से संबंधित है । इस दृष्टि से नैतिक आदेश का

सूत्र इस तरह अभिव्यक्त किया जाता है कि "ऐसे विषयीगत नियमों का चयन किया जाना चाहिए, जो प्रकृति के सार्वभौमिक नियमों के समान हों।"

दूसरा सूत्र जो यह बताता है कि "बौद्धिक प्राणी अपने आप में साध्य है", विषयीगत नैतिक नियम की 'सामग्री' से संबंधित है। विषयीगत नैतिक नियम की सामग्री है—साध्य। इस दृष्टि से हमें उपर्युक्त सूत्र यह बतलाता है कि प्रत्येक बौद्धिक प्राणी अपने स्वभाव से ही एक साध्य है परिणामतः वह अपने आप में साध्य है। बौद्धिक प्राणी को प्रत्येक विषयीगत नैतिक नियम के लिए एक ऐसी शर्त या उपाधि के रूप में प्रस्तुत होना चाहिए जो समस्त सापेक्ष व व ऐच्छिक साध्यों पर अंकुश रखती हो।

तृतीय सूत्र अथवा साध्यों के साम्राज्य का सूत्र 'आकार' तथा 'सामग्री' दोनों से संबंधित है। यह विषयीगत नैतिक नियम के पूर्ण निर्धारण से संबंधित है। निम्नलिखित सूत्र के द्वारा समस्त विषयीगत नैतिक नियमों के पूर्ण निर्धारण को अभिव्यक्त किया जा सकता है :

"चूंकि हमारे समस्त विषयीगत नियम हमारे द्वारा नियम बनाने की सामर्थ्य से प्रवृत होते हैं अतः उन्हें प्रकृति के साम्राज्य के समान, साध्यों के संभाव्य साम्राज्य के अनुरूप होना चाहिए।"

प्रकृति के साम्राज्य की चर्चा कांट ने पहले कहीं नहीं की। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति के साम्राज्य का साध्यों के साम्राज्य से उसी प्रकार का संबंध है जैसा प्रकृति के सार्वभौमिक नियम तथा स्वतंत्र्यता के सार्वभौमिक नियम के मध्य पाया जाता है। कांट इस बात को पूर्णतः स्पष्ट कर देते हैं कि जब भी वे नैतिकता के संदर्भ में प्रकृति की चर्चा करते हैं, तब प्रकृति को सोद्देश्य मानकर चलते हैं। कांट प्रयोजनवाद अथवा सोद्देश्यतावाद के कट्टर समर्थक है। प्रयोजनवाद "प्रकृति" को साध्यों के साम्राज्य के रूप में देखता है। नीतिशास्त्र "साध्यों के सम्भाव्य साम्राज्य' को प्रकृति के साम्राज्य के रूप में देखता है। पहली स्थिति में, साध्यों का साम्राज्य एक सैद्धान्तिक विचार है जिसका उपयोग तथ्यों को समझाने तथा तथ्यों की व्याख्या के लिए किया जाता है। दूसरी स्थिति में, साध्यों का साम्राज्य एक व्यावहारिक विचार है जिसका प्रयोग जो सत्तावान नहीं है उसे सत्ता में कैसे लायें, यह बताने के लिए किया जाता है। इसकी सहायता से हम यह जानते हैं कि जो सत्तावान् नहीं है, या जो तथ्यात्मक जगत् में उपलब्ध नहीं है, उसे हम अपने आचरण (Conduct) द्वारा 'वास्तविक' बना सकते हैं। "जो नहीं है", उसे हम अपने आचरण अथवा कर्म द्वारा सत्ता में ला सकते हैं। इतना ही नहीं, हम उसे साध्यों के साम्राज्य के

विचार के अनुरूप सत्ता प्रदान कर सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि तथ्यात्मक जगत में हमें साध्यों का साम्राज्य दृष्टिगोचर नहीं होता अर्थात् तथ्यात्मक जगत में इसकी सत्ता नहीं है। इसकी सत्ता "प्रत्ययात्मक" या 'वैचारिक' है अर्थात् प्रत्यय या विचार के रूप में हमें इसका ज्ञान होता है व हो सकता है। प्रत्यय के रूप में इसका ज्ञान होने का अर्थ, या बौद्धिक प्राणी में पाया जाने वाला साध्यों के साम्राज्य का विचार, यह दर्शाता है कि यद्यपि वह सत्तवान् नहीं है तथापि 'संभाव्य' अवश्य है। हम अपने नैतिक कर्मों द्वारा इस 'संभाव्य' साम्राज्य को धरती पर साकार कर सकते हैं। इसे साकार करने का साधन है—हमारे नैतिक कर्म। आचरण अथवा कर्म इसलिये कहा गया है, क्योंकि जब तक हम अपने को तथा अन्य बौद्धिक प्राणियों को, इस तरह समस्त मानवता को, अपने आप में साध्य मानकर आचरण नहीं करेंगे तब तक ऐसे साम्राज्य का प्रत्यय मात्र एक कल्पना होगा। तब यह केवल एक काल्पनिक प्रत्यय बनकर रह जायेगा। तृतीय सूत्र में "आकार" तथा "सामग्री" दोनों संयुक्त हैं।

नैतिकता के सूत्रों की उपर्युक्त प्रगति तीन बुद्धि-विकल्पों (Categories) के माध्यम से होती है। इन तीन विकल्पो में पहला विकल्प हैं—संकल्प के आकार की एकता (Unity) का विकल्प अर्थात् संकल्प की सार्वभौमिकता। दूसरा विकल्प है—संकल्प की सामग्री की अनेकता (Multiplicity) का विकल्प अर्थात् संकल्प के अनेक विषय या साध्य। तथा तीसरा विकल्प है—संकल्प के साध्यों की प्रणाली की पूर्णता (Totality) अथवा समष्टि का विकल्प। दृष्टव्य है कि कांट के दर्शन में एकता, अनेकता (या बहुलता) तथा 'पूर्णता' ये तीनों "परिणाम" के अन्तर्गत रहने वाले विकल्प हैं। इन तीनों विकल्पों में से पूर्णता का विकल्प एकता तथा अनेकता के विकल्प को संयुक्त करता है। इस तरह कांट अपनी दार्शनिक शब्दावली में नैतिकता के सूत्रों की प्रगति समझाते हैं, पर वे यह भी कहते हैं कि इस दार्शनिक विवेचन में पड़ने की अपेक्षा यह अधिक अच्छा है कि अपने नैतिक निर्णयों में हम सदैव एक निश्चित पद्धति (Method) का अनुसरण करें तथा अपने नैतिक निर्णयों के आधार के रूप में निरपेक्ष आदेश के सार्वभौमिक सूत्र को स्वीकार करें। यह सूत्र यह बतलाता है कि "केवल उस विषयीगत सिद्धांत के आधार पर कर्म करो, जो उसी समय एक सार्वभौमिक नियम बनाया जा सकता हो।"

यदि हम यह चाहते हैं कि नैतिक सर्वस्वीकृत हो, तो हमें एक ही कर्म को उपर्युक्त तीनों प्रत्ययों के आधार पर जांच कर देखना चाहिए। सर्वप्रथम

हमें यह देखना चाहिये कि हम किसी कर्म को जिस विषयीगत सिद्धांत के आधार पर करने जा रहे हैं क्या वह विषयीगत सिद्धांत प्रकृति के सार्वभौमिक नियम के समान सार्वभौमिक हो सकता है ? इसके पश्चात् हमें यह देखना चाहिए कि हमारे किसी कर्म का बिषयीगत नियम बौद्धिक प्राणियों को (स्वयं को तथा समस्त बौद्धिक प्राणियों को) अपने आप में साध्य मान रहा है अथवा नहीं ? इसके पश्चात् हमें यह देखना चाहिए कि किसी कर्म का हमारा विषयीगत सिद्धान्त साध्यों के संभाव्य साम्राज्य के प्रत्यय कर आधारित है अथवा नहीं ? अब यदि किसी कर्म का हमारा विषयीगत नियम तीनों सूत्रों की कसौटियों पर खरा उतरता है तो वह अवश्य ही एक "नैतिक नियम" कहलाने योग्य है। किसी नैतिक नियम की स्वीकृति के लिए यह भी आवश्यक है कि जहाँ तक हो सके हम सार्वभौमिक सूत्र अथवा बुद्धि के विचार को अन्तर्बोध के समीप लायें।

संपूर्ण युक्ति का पुनरावलोकन

अन्तिम पुनरावलोकन कर कांट एक बार संपूर्ण युक्ति प्रारम्भ से लेकर अन्त तक संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि यदि संकल्प बुरा नहीं हो सकता, तो इसका यह अर्थ हुआ कि वह अन्तिम रूप से शुभ है। संकल्प को अन्तिम रूप से शुभ कहने का तात्पर्य यह है कि कर्म सम्बन्धी इसका विषयीगत नियम, सार्वभौमिक नियम बनाये जाने पर कभी भी आत्मा-विरोधी सिद्ध नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में, संकल्प को अन्तिम रूप से शुभ कहने का तात्पर्य यह है कि इसके विषयीगत नियम को सार्वभौमिक नियम बनाने पर कभी भी इस विषयीगत नियम का विरोध नहीं हो सकता अर्थात् संकल्प के विषयीगत नियम तथा सार्वभौमिक नियम के मध्य कोई विरोध या संघर्ष की स्थिति नहीं आती। विरोध या संघर्ष इसलिये नहीं होता क्योंकि दोनों एक ही हो जाते हैं। तब विषयीगत नियम और सार्वभौमिक नियम दो पृथक्-पृथक् नियम नहीं रह जाते हैं। वस्तुतः विषयीगत नियम ही सार्वभौमिक नियम हो जाता है। यही कारण है कि "सार्वभौमिकता संबंधी सिद्धान्त" संकल्प का सर्वोच्च सिद्धान्त भी है। यह आदेश देता है कि "केवल उसी विषयीगत नियम के आधार पर कर्म करो, जिसकी सार्वभौमिकता की इच्छा एक नियम के रूप में उसी क्षण तुम कर सकते हो।" यह एक ऐसा सिद्धान्त है जिसके अनुसार कर्म करने पर कभी भी कई संकल्प अर्थात् व्यक्ति आत्म-विरोध में नहीं फंस सकता। यह सिद्धान्त जो आदेश देता है, वह निरपेक्ष आदेश है।

कांट मानते हैं कि जिस प्रकार का सम्बन्ध प्रकृति की सत्तावान वस्तुओं तथा प्रकृति के सार्वभौमिक नियमों के मध्य पाया जाता है, उसी प्रकार का सम्बन्ध संकल्प के संभाव्य कर्मों तथा संकल्प के सार्वभौमिक नियम के मध्य पाया जाता है। अतः हम निरपेक्ष आदेश को इस तरह भी अभिव्यक्त कर सकते हैं कि

"केवल उस विषयीगत सिद्धान्त के आधार पर कर्म करो उ जो सी समय अपने को प्रकृति के एक सार्वमौमिक नियम के रूप में अपना विषय बना सके।"

यहाँ "अपना विषय बना सके" से तात्पर्य अपने को प्रकृति के सार्वभौमिक नियम के रूप में देख सकने से है। अथवा, इसका तात्पर्य उस अपेक्षा से है जिसके अनुसार उसे प्रकृति के सार्वभौमिक नियम के रूप में हमारा विषय बन सकने के योग्य होना चाहिए। यहाँ 'विषय' का अर्थ 'चिन्तन का विषय' है, कोई प्राकृतिक विषय नहीं।

बौद्धिक प्रकृति या स्वभाव अन्य चीजों से इस बात में भिन्न है कि यह अपने आप में साध्य है। इस तरह प्रत्येक शुभ संकल्प अपने आप में साध्य है क्योंकि संकल्प केवल वहीं पाया जाता है जहाँ 'बुद्धि' होती है, अर्थात् केवल बौद्धिक प्राणियों में ही संकल्प पाया जाता है। जब हम ऐसे संकल्प पर विचार करते हैं जो 'परम शुभ' है अर्थात् जो संकल्प बिना किसी उपाधि के निरपेक्ष रूप से शुभ है, तो हमें ऐसे साध्यों की चर्चा कदापि नहीं करना चाहिए जो 'उत्पन्न' किये जाते हैं। उत्पन्न किये जाने वाले साध्यों की चर्चा करके तो हम संकल्प को सापेक्ष रूप से ही शुभ सिद्ध कर पायेंगे, निरपेक्ष रूप से नहीं। अतः बौद्धिक प्राणियों के संदर्भ में जब हम 'साध्य' शब्द का प्रयोग करते हैं तो उसका अर्थ "उत्पन्न किये जाने वाले साध्य" से नहीं लिया जाना चाहिए। इस संदर्भ में 'साध्य' शब्द का अर्थ एक "स्वयं-सत्तात्मक साध्य" होता है। कांट कहते हैं कि स्वयं सत्तात्मक साध्य को निषेधात्मक या अभावात्मक रूप में समझा जाना चाहिए। इसे ऐसे साध्य के रूप में देखा जाना चाहिए, जिसके विरुद्ध हमें सभी कोई कर्म नहीं करना चाहिए। परिणामतः इसे साध्य मानना होगा, जिसे कभी भी केवल 'साधन' न मानकर, सदैव उसी क्षण एक 'साध्य' के रूप में भी जानना चाहिए। ऐसा स्वयं-सत्तात्मक साध्य केवल बौद्धिक प्राणी ही हो सकता है, जो समस्त संभाव्य साध्यों का ज्ञाता है। संभाव्य साध्यों का ज्ञाता बौद्धिक प्राणी शुभ संकल्प का भी ज्ञाता

है। "शुभ संकल्प" को अन्य किसी भी वस्तु से 'गौण' नहीं माना जा सकता। यदि हम वैसा मानते हैं, तो आत्म-विरोधों में फंस जाते हैं। कांट के विचारानुसार यह सिद्धान्त कि "प्रत्येक बौद्धिक प्राणी (स्वयं के रूप में तथा अन्य व्यक्तियों के रूप में) के साथ इस तरह व्यवहार करो कि तुम्हारे विषयीगत सिद्धान्त में उसकी गणना अपने आप में साध्य के रूप में भी हो सके", गहराई से देखने पर इस सिद्धान्त के समान है कि "ऐसे विषयीगत सिद्धान्त के आधार पर कर्म करो, जो उसी समय प्रत्येक बौद्धिक प्राणी के लिये अपनी सार्वभौमिकता को अपने आप में निहित रखता हो।"

जब प्रत्येक बौद्धिक प्राणी अपने आप में साध्य है तो यह भी निश्चित है है कि वह जिस नियम के अधीन होता है, उस सार्वभौमिक नियम का निर्माता भी वह स्वयं ही होता है। यदि हम उसे केवल "नियमाधीन" मानें किन्तु "नियम-निर्माता" न मानें, तो अन्य किसी के द्वारा निर्मित नियम के अधीन हो जाने पर वह अपने आप में साध्य नहीं रह जायेगा। तब वह केवल साधनमात्र रह जायेगा। "अपने आप में साध्य" होने के कारण मानव की गरिमा है। इस गरिमा के कारण वह प्रकृति की समस्त वस्तुओं से अलग व ऊँचा है। उसकी गरिमा में यह बाध्यता पाई जाती है कि प्रत्येक बौद्धिक प्राणी अपने कर्म के संदर्भ में, अपने विषयीगत सिद्धान्तों का चयन करते समय सदैव अपने को तथा अन्य प्रत्येक बौद्धिक प्राणी को नियम के निर्माता के रूप में देखे। केवल इस तरह से ही साध्यों के साम्राज्य के रूप में बौद्धिक प्राणियों का एक संसार संभव है। साध्यों के साम्राज्य की सिद्धि तब ही हो सकती है जब प्रत्येक मनुष्य निरपेक्ष आदेश का पालन करने लगे।

साध्यों का यह साम्राज्य प्रकृति के साम्राज्य के समान ही है। पर यह स्मरणीय है कि दोनों की सिद्धि के तरीकों में भेद है। साध्यों के साम्राज्य की सिद्धि केवल तभी संभव है जब प्रत्येक बौद्धिक प्राणी आत्म-आरोपित अर्थात् अपने ही द्वारा निर्मित "कर्म के नियमों" (Laws) का पालन करें। इसके विपरीत प्रकृति की सिद्धि बाह्य कारण सम्बन्धी "सार्वभौमिक नियमों" (Laws) के माध्यम से ही संभव है। साथ ही, प्रकृति को एक मशीन समझा जाता है। यह भेद होते हुए भी कांट एक 'पूर्ण प्रणाली' के रूप में प्रकृति को "प्रकृति का साम्राज्य" कहकर संबोधित करते हैं। वे इसे प्रकृति का 'साम्राज्य' इसलिये कहते हैं क्योंकि इसका सम्बन्ध बौद्धिक प्राणियों से है तथा इस सम्बन्धानुसार बौद्धिक प्राणी प्रकृति के साध्य अथवा उद्देश्य हैं। "प्रकृति सोद्देश्य है" कांट की यह विचारधारा तब भी झलकती है जब वे प्रकृति

के सार्वभौमिक नियम से नैतिकता (या स्वतंत्रता) के सार्वभौमिक नियम की तुलना करते हैं।

यह सत्य है कि साध्यों का साम्राज्य तब ही वास्तविक रूप में सत् हो सकता है जब प्रत्येक बौद्धिक प्राणी पूर्णतः निरपेक्ष आदेश द्वारा निर्देशित हो। निरपेक्ष आदेश द्वारा निर्देशित हो अर्थात् कर्म के उन विषयीगत सिद्धान्तों का पालन करे जो सार्वभौमिक नियम होने की क्षमता रखते हों। यदि एक बौद्धिक प्राणी अपने को पूर्णतः इन सार्वभौमिक विषयीगत नियमों के अधीन रखता है, तो इस आधार पर वह यह नहीं कह सकता कि अन्य प्रत्येक बौद्धक प्राणी भी इस नियम के प्रति उतनी ही निष्ठा रखते हैं। एक या कुछ बौद्धिक प्राणियों द्वारा सार्वभौमिक नियम का पालन करने से साध्यों का साम्राज्य वास्तविक नहीं हो सकता। इसको वास्तविकता प्रदान करने के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक बौद्धिक प्राणी या समस्त मनुष्य निरपेक्ष आदेश का पालन करें। पर इतना भी पर्याप्त नहीं है, अपितु यह भी आवश्यक है कि प्रकृति हमारे नैतिक प्रयासों व उद्यमों के साथ सहयोग करे। इस तरह कांट के अनुसार अन्य बौद्धिक प्राणियों तथा प्रकृति के सहयोग के अभाव में साध्यों के साम्राज्य का 'आदर्श' साकार नहीं किया जा सकता है। यह सत्य है, किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि हम कभी भी प्रकृति व अन्य बौद्धिक प्राणियों से प्राप्त इस सहयोग के प्रति पूर्ण आश्वस्त नहीं हो सकते अर्थात् यह आवश्यक नहीं है कि हमें उपर्युक्त मनोवांछित सहयोग सदैव ही मिल जाये या सदैव ही मिलता रहे। फिर भी, वह आदेश जो हमें साध्यों के साम्राज्य के नियम-निर्मायिक सदस्य के रूप में कर्म करने की आज्ञा देता है, निरपेक्ष ही है। हमें साध्यों के साम्राज्य के आदर्श को व्यावहारिक रूप देने के लिये सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए। चाहे हमें अभीष्ट परिणाम प्राप्त हों अथवा नहीं, किन्तु आदर्श के लिये समर्पित रहना हमारा स्वभाव बन जाना चाहिए। यह आवश्यक नहीं है कि हमारे नैतिक प्रयासों के फलस्वरूप प्रकृति हमें सदैव वह 'सुख' प्रदान करे जिसकी हम आशा रखते हैं। वस्तुतः "सद्गुण" तथा "सुख" के मध्य कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। अतः हमें बिना किसी आशा तथा अपेक्षा के इस आदर्श धरा पर 'वास्तविक' करने के लिये सदैव अपनी सामर्थ्यानुसार प्रयास करते रहना चाहिए।

नैतिक आदर्श की प्राप्ति के लिये बौद्धिक प्राणी द्वारा किये जाने वाले निःस्वार्थ प्रयासों में ही बौद्धिक प्राणी की गरिमा निहित है। अतः उस इसी

आधार पर परखना चाहिए। स्वार्थमय प्रेरकों पर आश्रित न रहने की मानव की विशेषता उसकी "स्वतंत्रता" की परिचायक है । यही स्वतंत्रता व्यक्ति के विषयीगत नियम की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करती है, तथा व्यक्ति को साध्यों के साम्राज्य का नियम-निर्माता सदस्य होने के योग्य बनाती है। यदि मानय या बौद्धिक प्राणी में इस प्रकार की स्वतंत्रता नहीं पाई जाती, तो वह केवल अपनी ही आवश्यकताओं का दास होता। कांट कहते हैं कि यदि ऐसा सोचा जाये कि 'प्रकृति का साम्राज्य' तथा 'साध्यों का साम्राज्य' एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से संयुक्त हैं अतः इस तरह साध्यों के साम्राज्य का विचार केवल प्रत्यय नहीं है, वरन् उसकी विशुद्ध सत्ता भी है, तो ऐसा सोचने पर भी इस विचार के आन्तरिक मूल्य में कभी भी कोई वृद्धि नहीं होगी, क्योंकि आंतरिक मूल्य के संदर्भ में "परिणाम" की चर्चा नहीं की जा सकती। हम इसके संबंध में 'वृद्धि' तथा "ह्रास" की चर्चा नहीं कर सकते। प्रकृति के साम्राज्य का उल्लेख कर तथा उसके साथ इसकी तुलना कर हम केवल इतना करते हैं कि साध्यों के साम्राज्य वाले सूत्र के लिये एक और सुदृढ़ प्रेरक प्रस्तुत कर देते हैं। वस्तुओं का सारतत्व (es ence) उनके बाह्य संबंधों के साथ-साथ रूपान्तरित नहीं होता है। अतः यदि कोई चीज ऐसी है जो इन बाह्य संबंधों के बिना, अपने आप ही अथवा अपने ही द्वारा मनुष्य को परम मूल्य या गरिमा प्रदान करती है, तो इस चीज की सहायता से ही किसी भी मनुष्य द्वारा किसी बौद्धिक प्राणी के संबंध में निर्णय लिये जाना चाहिए। यहां तक कि सर्वोच्च सत्ता (Supreme being) द्वारा भी इसके ही आधार पर निर्णय लिये जाना चाहिए। इस तरह, नैतिकता "संकल्य-स्वातंत्र्य" तथा 'कर्मों' के मध्य पाये जाने वाले संबंध पर आश्रित होती है। यही कारण है कि केवल स्वतन्त्र कर्म ही नैतिक कर्म कहे जा सकते हैं। नैतिकता की दृष्टि से, केवल वही कर्म "स्वीकार्य" होता है, जो कर्म संकल्प-स्वातंत्र्य के अनुरूप होता है। अतः जो कर्म संकल्प-स्वातंत्र्य का विरोधी होता है उसका निषेध किया जाता है।

कांट की दृष्टि में वह संकल्प परम रूप से शुभ तथा 'पवित्र संकल्प" (Holly will) है जिसके विषयीगत नियम 'अनिवार्यतः' स्वातंत्र्य के नियमों के अनुरूप होते हैं। इस दृष्टि से केवल ईश्वर के संकल्प को ही 'पवित्र संकल्प' की श्रेणी में रखा जा सकता है पर कांट ने कहीं भी 'पवित्र संकल्प' को 'ईश्वर' या 'ईश्वर का संकल्प' नहीं कहा है। शायद उन्होंने "ईश्वरीय संकल्प" शब्द का प्रयोग इसलिये नहीं किया, कि

वे धार्मिकता को नैतिकता के क्षेत्र में लाकर नैतिकता को थोड़ा भी धार्मिक रंग नहीं देना चाहते थे। यह तो सर्वविदित है कि मानवीय संकल्प "परम शुभ" संकल्प नहीं है फिर भी मानव-संकल्प संकल्प-स्वातंत्र्य के सिद्धान्त पर आश्रित रहता है। मानव-संकल्प की यह आश्रितता ही "नैतिक बाध्यता" अथवा "कर्तव्यता" (obligation) है। पूर्ण पवित्र प्राणी (कांट 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग नहीं करते) के लिये इस प्रकार की कोई नैतिक बाध्यता नहीं होती, क्योंकि उसके कर्म स्वभावतः संकल्प-स्वातंत्र्य के अनुरूप होते हैं। नैतिक रूप से बाध्य होकर कर्म करने की वस्तुगत अनिवार्यता ही 'कर्तव्य' है।

कर्तव्य के प्रत्यय द्वारा हम यह जानते हैं कि मनुष्य सार्वभौमिक नियम के अधीन है। दूसरी ओर, हम यह भी मानते हैं कि अपने समस्त कर्तव्यों का पालन करने वाले मानव में 'श्रेष्ठता' अथवा "गरिमा" पाई जाती है। लोग यह आक्षेप कर सकते हैं कि इस तरह कांट एक ही समय में मानव की "अधीनता" तथा उसकी "श्रेष्ठता" की चर्चा कर आत्मविरोधी बातें करते हैं। किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। मानव की श्रेष्ठता की बात कांट उसकी नियम-अधीनता के संदर्भ में कदापि नहीं करते। वे इसे सार्वभौमिक नैतिक नियम के 'निर्माता' होने के कारण ही श्रेष्ठ कहते हैं। मानव जिन नियमों का पालन करने के लिये बाध्य है, उन नियमों का निर्माण भी वही करता है, इसी दृष्टि से वह श्रेष्ठ है। प्रकृति में तथा पशुजगत में क्रमशः वस्तुयें तथा पशु भी नियमाधीन है, किन्तु वे जिन नियमों के अधीन हैं उनका वे निर्माण नहीं कर सकते। न केवल इतना, वरन् उन्हें उन नियमों का 'ज्ञान' (प्रत्यय) भी नहीं रहता। मानव की श्रेष्ठता नियमों के निर्माता, ज्ञाता तथा नियमानुसार कर्म करने वाले चेतन कर्ता होने की उसकी सामर्थ्य में निहित है।

संकल्प का स्वातंत्र्य

(नैतिकता के सर्वोच्च सिद्धान्त के रूप में)

संकल्प-स्वातंत्र्य यह दर्शाता है कि संकल्प में स्वतंत्र रूप से स्वयं ही अपना नियम बनाने की विशेषता पाई जाती है। कांट के अनुसार स्वातन्त्र्य का सिद्धान्त निम्नलिखित है—

"सदैव केवल इस तरह चयन करो कि चयन करने वाले संकल्प में तुम्हारे चुने गये विषयीगत नियम भी सार्वभौमिक नियम के रूप में उपस्थित हों।"

यह व्यावहारिक नियम एक आदेश है। इसे कांट "आदेश" की श्रेणी में इसलिये रखते हैं क्योंकि प्रत्येक बौद्धिक प्राणी का संकल्प अनिवार्यतः इस नियम के अधीन होना चाहिए। संकल्प-स्वातंत्र्य का सिद्धान्त नैतिक-निर्णयों की प्रामाणिकता के लिये एक अनिवार्य शर्त है ।

कांट बताते हैं कि स्वातन्त्र्य के नियम में जो प्रत्यय निहित हैं, हम उन प्रत्ययों का विश्लेषण कर, यह सिद्ध नहीं कर सकते कि यह नियम एक "आदेश" है। यह इसलिये संभव नहीं है, क्योंकि स्वातन्त्र्य का सिद्धान्त "संश्लेषणात्मक तर्कवाक्य" है । यदि हम इस सिद्धान्त की प्रामाणिकता स्थापित करना चाहते हैं, तो हमें कर्म संबंधी अपने नैतिक निर्णयों से परे जाना होगा तथा विशुद्ध व्यावहारिक बुद्धि की मीमांसा करनी होगी। ऐसा हमें इसलिये करना होगा क्योंकि यह "संश्लेषणात्मक तर्कवाक्य" पूर्णतः प्राक्आनुभविक रूप से ज्ञात होने योग्य होना चाहिए। तथापि नैतिकता के प्रत्ययों के विश्लेषण द्वारा हम यह सरलता से दिखा सकते हैं कि स्वातन्त्र्य का उपर्युक्त सिद्धान्त नीतिशास्त्र का अद्वितीय सिद्धान्त है। यह नीतिशास्त्र का आधारभूत सिद्धान्त है। विश्लेषण हमें यह बताता है कि नैतिकता का सिद्धान्त 'निरपेक्ष' आदेश है तथा यह हमें संकल्प-स्वातंत्र्य के लिये कर्म करने की आज्ञा देता है।

संकल्प का पारतंत्र्य (Heteronomy)
(नैतिकता के समस्त मिथ्या सिद्धान्तों के स्रोत् के रूप में)

जो भी नीतिदर्शन स्वातंत्र्य के सिद्धांत का तिरस्कार करता है, वह निश्चित रूप से पारतन्त्र्य के सिद्धान्त पर आश्रित होता है। ऐसा नीति-दर्शन मानवीय कर्मों को नियंत्रित करने वाले नियमों को संकल्प पर आश्रित न कर, बाह्य विषयों पर आधारित करता है। ऐसी स्थिति में संकल्प अपने को नियम प्रदान नहीं करता, किन्तु विषय या संकल्प-बाह्य वस्तुयें संकल्प को नियम प्रदान करती हैं। संकल्प तथा वस्तुओं के मध्य पाया जाने वाला यह संबंध मानव की प्रवृत्तियों (आदत जन्य इच्छाओं) पर भी आधारित हो सकता है तथा बौद्धिक विचारों पर भी। यह किसी पर भी आश्रित हो, किन्तु यह सदैव 'सापेक्ष' आदेशों को ही जन्म दे सकता है क्योंकि यह या तो प्रवृत्तियों के आपेक्ष रहता है अथवा बौद्धिक विचारों के। सापेक्ष आदेश अनैतिक हुआ करता है अतः यह अनैतिक आदेशों को जन्म देता है। आपेक्ष आदेश का प्रारूप रहता है "मुझे कुछ करना चाहिए क्योंकि मैं अन्य किसी चीज की कामना करता हूँ" (मुझे अमुक कर्म करना

चाहिए क्योंकि मुझे अमुक चीज की इच्छा है) निरपेक्ष आदेश का प्रारूप इसके विपरीत रहता है—'मुझे अमुक तरह से कर्म करने का संकल्प करना चाहिए, यद्यपि मुझे अन्य किसी भी चीज की कामना नहीं है।' उदाहरणों के द्वारा यह भेद और भी स्पष्ट किया जा सकता है। जब हम यह सोचते हैं कि "यदि हमें अपनी साख बचाना है तो हमें झूठ नहीं बोलना चाहिए", तब हमारा यह विषयीगत नियम सापेक्ष आदेश होता है। यह सापेक्ष आदेश इसलिये है क्योंकि इसमें साख बचाने के उद्देश्य से ही "झूठ न बोलने" के कर्म-सिद्धान्त को अपनाया जा रहा है। जब हम यह कहते हैं कि "हमें झूठ नहीं बोलना चाहिए, चाहे इससे साख बढ़े या घटे", तब हमारे कर्म का विषयीगत सिद्धान्त निरपेक्ष आदेश होता है; क्योंकि इसका स्वीकार किया जाना किसी परिणाम की अपेक्षा या दूरदर्शितापूर्ण साध्यों की अपेक्षा नहीं रखता। इसमें हमारा संकल्प स्वनिर्मित नियम के अनुसार कर्म करने को बाध्य होता है, किसी अन्य वस्तु या विषय से प्रभावित होकर नहीं।

कट्टर नैतिकतावादी कांट इस बात पर बल देते हैं कि कर्तव्य संबंधी निर्णय करते समय हमें कभी भी अपनी विषयेच्छा से प्रभावित नहीं होना चाहिए। पूर्ण नैतिक कर्म करने के लिये हमारा विषयों की इच्छा से मुक्त होना या रहना अत्यधिक आवश्यक है। "हमें दूसरों के सुच में वृद्धि करना चाहिए। पर इसलिये नहीं, कि ऐसा करने से हमारा कुछ स्वार्थ सिद्ध होता है या भविष्य में इसमें कुछ लाभ होने की आशा है। हमें ऐसा इसलिये करना चाहिए कि यह कर्म-सिद्धान्त एक सार्वभौमिक सिद्धांत है अर्थात् यह एक संकल्पप्रसूत सिद्धान्त है।

कांट नैतिकता के उन समस्त संभाव्य सिद्धान्तों का वर्गीकरण करते हैं, जो पारतन्त्र्य की मान्यता को अपना मूलभूत प्रत्यय मानकर उस पर आधारित हैं।

पारतन्त्र्य के सिद्धान्तों का वर्गीकरण

कांट बताते हैं कि जिस प्रकार ज्ञान के अन्य क्षेत्रों में मानव-बुद्धि सत्य ज्ञान प्राप्त करने के लिये अनेक गलत मार्गों में भटकती हुई आगे बढ़ती है तथा अनेक असफल प्रयासों के पश्चात् अन्त में उचित मार्ग का चयन कर पाती है, उसी तरह नैतिक ज्ञान के क्षेत्र में भी पहिले वह अनेक गलत मान्यताओं में भटकती रहती है। कांट के विचार में मानव-बुद्धि की इन भटकनों का मूल कारण बुद्धि मीमांसा का अभाव है। पारतन्त्र्य पर आश्रित

नैतिक सिद्धान्त बुद्धि के इसी भटकाव का ज्वलंत उदाहरण है ।

पारतन्त्र्य पर आश्रित नैतिक सिद्धान्त या तो 'अनुभवात्मक' होते हैं या वे 'बौद्धिक' होते हैं । इनमें से अनुभवात्मक नैतिक सिद्धान्त सदैव सुख-प्राप्ति के सिद्धान्त पर आधारित होते हैं । यह संभव है कि कुछ अनुभवात्मक नैतिक सिद्धान्त सुख-दुख की प्राकृतिक अनुभूतियों पर आश्रित हों, तथा अन्य कुछ तथाकथित नैतिक अनुभूति या नैतिक चेतना पर आश्रित हों।

पारतन्त्र्य के बौद्धिक नैतिक सिद्धान्तों का आधार सदैव पूर्णता का बौद्धिक प्रत्यय रहता है। यह पूर्णता या तो हमारे अपने अर्थात् मानवीय संकल्प द्वारा प्राप्य पूर्णता होती है अथवा ऐसी "पूर्णता" होती है जो पहिले ही से ईश्वर के संकल्प में सत्तावान् है । ईश्वर के संकल्प में सत्तावान् पूर्णता को "स्वयं-सत्तात्मक पूर्णता" कहा जा सकता है। ईश्वर का संकल्प ही स्वयं सत्तात्मक पूर्णता है। कहने का तात्पर्य यह है कि केवल ईश्वर का संकल्प ही "पूर्ण-संकल्प" है । यह पूर्ण संकल्प हमारे संकल्प को कुछ निश्चित काम करने के लिये विवश करता है अतः यह मानव-संकल्प का निर्धारक कारण है ।

पारतन्त्र्य के अनुभवात्मक सिद्धान्त

कांट 'चेतन' व 'ज्ञान' में भेद करते हैं। चेतना से उनका तात्पर्य सदैव "इन्द्रिय-चेतना" रहता है अतः वे कहते हैं कि चूँकि समस्त अनुभवात्मक सिद्धान्त चेतना पर आधारित होते हैं अतः उनमें सार्वभौमिकता का अभाव रहता है। सार्वभौमिकता के अभाव के कारण वे कभी भी नैतिक नियमों के आधार नहीं हो सकते । नैतिक नियमों की मूलभूत विशेषता है, उनकी सार्वभौमिकता । इस सार्वभौमिकता के कारण ही वे समस्त बौद्धिक प्राणियों पर, बिना किसी अपवाद के, समान रूप से लागू होते हैं। नैतिक नियमों की यह अपवादरहित सार्वभौमिकता हमारे लिये "निरुपाधिक व्यावहारिक बाध्यता" होती है। यदि हम नैतिक नियमों को मानव-स्वभाव की विशिष्ट संरचना पर आधारित करते हैं या उसे आकस्मिक परिस्थितियों पर आधारित करते हैं, तो इससे उनकी सार्वभौमिकता को क्षति पहुँचती है। पर फिर भी हम यह गलती प्रायः किया करते हैं। पारतन्त्र्य के अनुभवात्मक नैतिक सिद्धांतों की रचना हमारी इसी गलती की ओर संकेत करती है।

पारतंत्र्य के विभिन्न अनुभवात्मक सिद्धान्तों में से सर्वाधिक आक्षेप

"व्यक्तिगत सुख" के सिद्धान्त पर किये जा सकते हैं। ये आक्षेप केवल इसलिये नहीं किये जाते कि "व्यक्तिगत सुख" का सिद्धान्त मिथ्या है। ये आक्षेप केवल इसलिये भी नहीं किये जाते कि "समृद्धि" (Well being) तथा सच्चरित्रता (Well doing) के मध्य माना जाने वाला घनिष्ट संबंध अनुभव द्वारा प्रमाणित नहीं होता। इसकी आलोचना केवल इस कारण भी नहीं की जाती कि नैतिकता को प्रतिष्ठित करने में इसका कुछ भी योगदान नहीं है। इसका योगदान इसलिये नहीं है, क्योंकि मनुष्य को "सुखी" बनाना एक बात है और उसे 'सज्जन' या नैतिक बनाना दूसरी। अपने लाभ के लिए मनुष्य को 'दूरदर्शी' बनाना, उसे 'सद्गुणी' बनाने से नितांत भिन्न है। उपर्युक्त सिद्धान्त की आलोचना मुख्यत: इसलिये की जाती है कि यह नैतिकता को इन्द्रियजन्य (Sensuous) प्रेरकों पर आधारित कर, उसकी श्रेष्ठता को पूर्णत: नष्ट कर देता है। सद्गुण के प्रेरकों व अवगुण के प्रेरकों को समान स्तर पर रखकर यह सिद्धान्त उनके आधारभूत भेद की ही अवहेलना कर देता है।

दूसरा अनुभवात्मक सिद्धान्त है नैतिक चेतना अथवा नैतिक अनुभूति का सिद्धान्त। इस सिद्धान्त में कम से कम यह गुण पाया जाता है कि यह सद्गुण के निर्दिष्ट सुखदायी परिणामों में संतोषन खोज कर, सद्गुण में ही प्रत्यक्ष रूप से संतोष खोजता है। पर कांट इसे भी सुख के अनुभवात्मक नैतिक सिद्धान्त की श्रेणी में ही रखते हैं। अपनी इस मान्यता के लिये कांट यह तर्क देते हैं कि प्रत्येक अनुभवात्मक नैतिक सिद्धान्त के समान यह भी "संतोष" को महत्व देता है और संतोष के आधार पर ही हमारी समृद्धि में योगदान करने का आश्वासन देता है। यह एक विशेष प्रकार की अनुभूति के संतोष में 'शुभ' को खोजता है। इस तरह इसमें व अन्य अनुभवात्मक सिद्धान्तों में मात्र यह भेद है कि अन्य सिद्धान्तों में जिस संतोष की चर्चा रहती है वह प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त न होकर, अप्रत्यक्ष रूप से अर्थात् लाभ पर विचार करने के पश्चात् प्राप्त होता है, जबकि इसमें लाभ-हानि के विचार के बिना प्राप्त होने वाले संतोष अथवा सहज संतोष का समावेश रहता है। कांट आलोचना करते हुए कहते हैं कि यह सिद्धान्त "अनुभूति" पर नैतिकता को आश्रित करने की असफल चेष्टा करता है। इसकी चेष्टा "असफल" इसलिये रहती है क्योंकि नैतिकता सार्वभौमिक होती है तथा अनुभूतियों के आधार पर कोई भी सार्वभौमिक सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि नैतिक चेतना के आधार पर शुभ-अशुभ का निर्णय नहीं किया जा सकता। कांट नैतिक अनुभूति की सत्ता स्वीकार नहीं

करते हों, ऐसा बात नहीं है। उसकी सत्ता वे स्वीकार करते हैं। उनका कहना केवल इतना है कि चूंकि "नैतिक अनुभूति" सार्वभौमिक नियम संबंधी हमारे ज्ञान का परिणाम होती है अर्थात् वह नियम संबंधी ज्ञान के पश्चात् ही सत्ता में आती है अतः वह न हमारे लिये नैतिकता का मापदण्ड हो सकती है, और न ही वह दूसरों के लिये नैतिक नियम का निर्माण कर सकती है।

पारतन्त्र्य के बौद्धिक सिद्धान्त

पारतन्त्र्य के अनुभवात्मक सिद्धान्तों की चर्चा करने के पश्चात् कांट उसके बौद्धिक सिद्धान्तों की चर्चा करते हैं। स्मरणीय है कि पारतन्त्र्य के बौद्धिक सिद्धान्त नैतिकता को सदैव किसी-न-किसी बौद्धिक प्रत्यय पर ही आश्रित करते हैं। इनमें से कांट ने दो आधारों का उल्लेख व उनकी आलोचना की है। वे हैं—'पूर्णता' का तत्वमीमांसात्मक (Ontological) प्रत्यय तथा नैतिकता का धार्मिक प्रत्यय।

नैतिकता के धार्मिक प्रत्यय के अनुसार नैतिकता का मूल स्रोत् "दिव्य तथा सर्वोत्कृष्ट पूर्ण संकल्प" है अर्थात् ईश्वर ही नैतिकता का मूलाधार है। कांट इस धार्मिक प्रत्यय की अपेक्षा पूर्णता के तत्वमीमांसात्मक प्रत्यय को ज्यादा उपयुक्त मानते हैं। यद्यपि वे यह मानते हैं कि यह प्रत्यय अनिश्चित है, अस्पष्ट है तथा अनुपयोगी है। पूर्णता से तत्वमीमांसात्मक प्रत्यय में पाये जाने वाले उपर्युक्त दोष इस कारण हैं क्योंकि यह प्रत्याय बता नहीं पाता कि संभाव्य सत्ता के असीम क्षेत्र में हमारे लिये संगत या उचित अधिकतम सत्ता (reality) क्या है? दूसरी ओर, यदि पूर्णता के प्रत्यय में "नैतिक पूर्णता" को भी सम्मिलित किया जाये तो यह सिद्धान्त स्पष्ट रूप से आत्माश्रय तर्क-दोष में फंस जाता है। आत्माश्रय इसलिये उत्पन्न होता है क्योंकि जो बात यह प्रमाणित करना चाहता है उसे पहिले ही स्वीकार कर चुकता है। सिद्ध किये जाने वाले निष्कर्ष को यह आधार वाक्यों में पहिले ही से अप्रत्यक्ष रूप में मान लेता है। दूसरी ओर, यदि 'नैतिक पूर्णता' को पूर्णता के प्रत्यय के अन्तर्गत सम्मिलित न किया जाये, तो पूर्णता का यह प्रत्यय 'पूर्णता' का प्रत्यय नहीं कहा जा सकेगा, क्योंकि तब इसमें "नैतिक पूर्णता" का अभाव रहेगा। कांट स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि नैतिक नियम हमें, हमारी प्राकृतिक पूर्णता तथा हमारी नैतिक पूर्णता की प्राप्ति के लिये बाध्य करते हैं। यहाँ प्राकृतिक पूर्णता से तात्पर्य है—अपनी प्रतिभाओं का विकास करना तथा नैतिक पूर्णताका अर्थ है—कर्तव्य के लिये कर्तव्य करना। पूर्णता के

में असफल रहता है, तथापि यह अपने आप में शुभ रहने वाले संकल्प के विचार को मिथ्या सिद्ध होने से बचाता है ।

पारतन्त्र्य के सिद्धान्तों की असफलता

इस तरह कांट पारतन्त्र्य पर आधारित नैतिकता संबंधी समस्त सिद्धांतों का खण्डन करते हैं । इन सिद्धान्तों में से चार बहुचर्चित हैं जिनका उल्लेख आगे किया जा चुका है । नैतिकता सम्बन्धी ये चार सिद्धान्त हैं :

(१) व्यक्तिगत सुख ही शुभ है ।

(२) नैतिक चेतना ही शुभ है ।

ये दोनों अनुभवात्मक सिद्धान्त हैं । नैतिकता सम्बन्धी बौद्धिक सिद्धान्त हैं—

(३) तात्विक पूर्णता ही शुभ है ।

(४) ईश्वर या दिव्य संकल्प के आदेश ही शुभ हैं ।

इन चारों सिद्धान्तों पर चार प्रकार के नीतिदर्शन प्रतिष्ठित हैं । वे हैं क्रमशः—(१) सुखवाद (२) नैतिक चेतनावाद (३) पूर्णतावाद तथा (४) ईश्वरवाद । कांट इन सभी नैतिक प्रणालियों के कट्टर आलोचक हैं । 'वादों' की उन्होंने जो आलोचनायें की हैं, उन सभी आलोचनाओं में एक सामान्य आलोचना यह है कि ये सभी नीतिदर्शन नैतिकता को संकल्प-बाह्य अन्य चीजों पर आश्रित कर, उसे परतन्त्र सिद्ध करते हैं । पारतन्त्र्य को नैतिकता का आधार मानने के कारण ही वे नैतिकता को समझाने में असफलता होते हैं ।

उपर्युक्त सभी सिद्धान्त यह मानते हैं कि नैतिक नियम संकल्प से नहीं, वरन् संकल्प के किसी विषय (object) से निर्गमित किये जाते हैं । जब भी संकल्प के किसी विषय को संकल्प को निर्धारित करने वाले नियम का आधार माना जाता है, तब वह नियम पारतन्त्र्य का नियम होता है । ऐसे नियम का आदेश सदैव सापेक्ष होता है । इस सापेक्ष आदेश का रूप होता है—

"यदि तुम अमुक वस्तु प्राप्त करना चाहते हो, तो तुम्हें अमुक-अमुक प्रकार से कर्म करना चाहिए ।"

या

"चूंकि तुम अमुक वस्तु की इच्छा रखते हो अतः तुम्हें अमुक कर्म करना चाहिए ।"

इस तरह पारतन्त्र्य पर आश्रित नियम कभी भी नैतिक या निरपेक्ष आदेश नहीं दे सकते। वे नैतिक दृष्टि से शुभ कर्म को अपने आप में शुभ न मानकर किसी वांछनीय परिणाम या वस्तु के साधन के रूप में शुभ मानते हैं। इस तरह वे नैतिक कर्म में पाई जाने वाली सहज रुचि को नष्ट करते हैं। उदाहरणार्थ, व्यक्तिगत सुख के सिद्धान्त तथा पूर्णता के सिद्धान्तानुसार हमारा संकल्प किये जा रहे कर्म के अपेक्षित परिणाम के प्रभाव द्वारा प्रेरित होता है। एक में यह 'सुख की अभिलाषा' है, तथा दूसरे में "पूर्णता की इच्छा"।

कांट कहते हैं कि जब संकल्प को आधार न मान, संकल्प के किसी विषय को नैतिकता का आधार बनाया जाता है, तो हमें दो चीजों की अपेक्षा रहती है। पहला तो है—वह 'नियम', जो हमें उस विषय की प्राप्ति के लिये बाध्य करे, तथा दूसरी आवश्यकता है 'एक ऐसे नियम' की, जो इस पहिले नियम की उचित कर्मों का ही प्रचार करने में लगाये। यह द्वितीय नियम विषय की प्राप्ति से संबंधित केवल उसी विषयीगत नियम के आधार पर कर्म करने को बाध्य करता है जिस विषयीगत नियम की इच्छा हम एक सार्वभौमिक नियम के रूप में कर सकते हैं।

इन सिद्धान्तों में यह माना जाता है कि कर्म के द्वारा प्राप्त होने वाले विषयों के ज्ञान के प्रभाव से संकल्प प्रेरित होता है। यह प्रभाव व्यक्ति की प्रकृति या 'स्वभाव' से संबंधित है। यह मुख्यत: व्यक्ति की इन्द्रिय-चेतना से अर्थात् उसकी प्रवृत्तियों तथा रुचि से भी संबधित हो सकता है तथा उसकी बुद्धि या प्रज्ञा से सम्बन्धित भी; पर है यह स्वभाव से ही संबधित। अब चूंकि चर्चित सिद्धान्त इस स्वभाव को ही नैतिक कर्म का प्रेरक मानते हैं, परिणामतः वे स्वभाव को ही नियम का निर्माता मानने का बाध्य हैं। इस तरह वे मानव को स्वतन्त्रता के नियमाधीन सिद्ध करने की अपेक्षा उसे 'प्रकृति' के नियम के अधीन सिद्ध करते हैं। ये उसे परतन्त्र दर्शाकर उसकी गरिमा को नष्ट कर देते हैं।

इस तरह पारतन्त्र्य के समस्त सिद्धान्त नैतिक नियम को प्रकृति के नियम (मानव-प्रकृति) के रूप में प्रस्तुत करते हैं। यदि यह प्रकृति का नियम है तो इस रूप में इस नियम का इन्द्रियानुभव द्वारा ज्ञान होना आवश्यक है तथा इन्द्रिय-अनुभव द्वारा इसको प्रमाणित करना भी आवश्यक है। दूसरी ओर, यदि यह इन्द्रिय-अनुभव द्वारा जाना जाता है वा प्रमाणित किया जाता है, तो यह "संदिग्ध" है परिणामस्वरूप यह कर्म का असंदिग्ध व निश्चित (apodeictic)

नियम नहीं बन सकता अर्थात् यह नैतिक कर्म का नियम (rule) नहीं बन सकता।

नैतिकता का आधार संकल्प-स्वातंत्र्य है, संकल्प-पारतंत्र्य नहीं। उपर्युक्त सभी सिद्धांतों की यह मान्यता कि संकल्प कर्म के अपने नियम का निर्माण स्वयं नहीं करता, बल्कि संकल्प के लिये विषय नियम का निर्माण करते हैं, मानव की गरिमा की अवहेलना करती है अतः त्याज्य है।

युक्ति की स्थिति

कांट कहते हैं कि परम रूप से शुभ रहने वाले संकल्प का आधार केवल एक होता है। और वह आकार है स्वातंत्र्य। स्वातंत्र्य के रूप में शुभ संकल्प "संकल्प शक्ति (Willing as such) के आकार" को निहित रखता है। शुभ संकल्प का सिद्धान्त सदैव 'निरपेक्ष आदेश' होगा। किन्तु जब हम विषयों को संकल्प से ज्यादा महत्ता प्रदान करने लगते हैं, तो निरपेक्ष आदेश के साथ ही संकल्प की गरिमा को भी आघात पहुँचाते हैं। संकल्प की गरिमा विषयों का दास होने में नहीं, वरन् उनसे मुक्त रहकर अपने ही द्वारा बनाये गये सार्वभौमिक नियम के पालन में है।

संकल्प-स्वातन्त्र्य का सिद्धान्त हमारे समस्त नैतिक निर्णयों की अनिवार्य शर्त है। कांट कहते हैं कि यदि नैतिकता नाम की किसी चीज की सत्ता है, तथा यदि हमारे नैतिक निर्णय कल्पनामात्र नहीं हैं, तो हमें स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त को अवश्य स्वीकार करना होगा। कांट दावा करते हैं कि "विश्लेषणात्मक युक्ति" के द्वारा उन्होंने यह प्रदर्शित किया है कि संकल्प-स्वातन्त्र्य ही नैतिकता का आधार है। अनेक नीतिशास्त्री इस विश्लेषणात्मक युक्ति को नैतिक सिद्धांत का पर्याप्त 'प्रमाण' (proof) मान सकते हैं; किन्तु कांट इसे प्रमाण नहीं मानते। उनके ही मतानुसार, अभी तक उन्होंने इस सिद्धान्त की सत्यता तक स्थापित नहीं की है।

कांट की दृष्टि में स्वातन्त्र्य का सिद्धान्त तथा उसका संवादी निरपेक्ष आदेश "संश्लेषणात्मक प्राक्-आनुभविक" तर्कवाक्य हैं। वे दृढ़तापूर्वक यह स्वीकार करते हैं कि यदि एक बौद्धिक कर्ता का अपनी तृष्णाओं आदि पर पूर्ण नियंत्रण हो, तो वह "अनिवार्य" रूप से केवल उन विषयीगत नियमों के आधार पर कर्म "करेगा" जिनके माध्यम से वह अपने को सार्वभौमिक नियम के निर्माता के रूप में जान सके। इस दृष्टि से ये प्राक्-आनुभविक हैं। साथ ही, कांट यह बताते हैं कि यदि कोई व्यक्ति पूर्णतः 'बौद्धिक नहीं है अर्थात्

वह इतना अबौद्धिक है कि प्रलोभनों में फंसकर दूसरी तरह से कर्म कर सकता है, तो उसे उन विषयीगत नियमों के आधार पर ही कर्म करना "चाहिए" जिनके माध्यम से वह अपने को सार्वभौमिक नियम के निर्माता के रूप में जान सके। इस दृष्टि से वे संश्लेश्षणात्मक तर्कवाक्य हैं।

कांट कहते हैं कि इस प्रकार का संश्लेषणात्मक प्राक्-आनुभविक तर्कवाक्य विशुद्ध व्यावहारिक बुद्धि के संश्लेषणात्मक उपयोग की अपेक्षा रखता है। विशुद्ध व्यावहारिक बुद्धि का संश्लेषणात्मक प्रयोग करने का साहस हम व्यावहारिक बुद्धि की मीमांसा के अभाव में नहीं कर सकते। अतः आगे चल कर कांट "विशुद्ध व्यावहारिक बुद्धि की मीमांसा" की रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं जो नैतिकता संबंधी उनकी मान्यताओं के लिये सुदृढ़ आधार प्रदान करती है।

तृतीय अध्याय

"नैतिक आदर्शों की तत्वमीमांसा से विशुद्ध व्यावहारिक बुद्धि की मीमांसा की ओर गमन"[1]

स्वतन्त्रता तथा संकल्प-स्वातन्त्र्य

कांट यह मानते हैं कि स्वतंत्रता के प्रत्यय की सहायता से हम सरलता से संकल्प-स्वातंत्र्य के प्रत्यय को समझा सकते हैं।

जब हम संकल्प अथवा व्यावहारिक बुद्धि पर विचार करते हैं तो यह पाते हैं कि हम इसे एक प्रकार की "कारणता" (Causality) के रूप में परिभाषित कर सकते हैं। 'कारणता' से तात्पर्य हेतुक (causal) कर्म की शक्ति से है। हम इसे कर्म के ऐसे कारणत्व (कारणता) के रूप में परिभाषित कर सकते हैं, जो समस्त बौद्धिक प्राणियों से संबंधित है। ऐसे संकल्प या व्यावहारिक बुद्धि को जब 'स्वतन्त्र' कहा जाता है तब इस तथ्य को स्पष्ट किया जाता है कि किसी कर्म को करते समय यह अपने अतिरिक्त अन्य किसी भी चीज द्वारा कर्म करने हेतु बाध्य नहीं किया जाता। अपने कर्म का कारण वह स्वयं हो सकता है। और जब संकल्प अपने कर्म का कारण स्वयं होता है, तब वह अपने से बाह्य अन्य किसी भी चीज द्वारा कर्म के लिये प्रेरित न होकर, स्वयं ही कर्म का प्रेरक-कारण होता है। इसी अर्थ में वह 'स्वतन्त्र' है।

इस स्वतन्त्रता के विपरीत है प्राकृतिक अनिवार्यता। यह अ-बौद्धिक प्राणियों के व्यवहार में पाई जाती है। अबौद्धिक प्राणियों के कर्म भी हेतु-सहित हो सकते हैं; किन्तु वे सदैव अबौद्धिक प्राणियों से इतर अन्य किसी तत्त्व द्वारा प्रेरित होते हैं। इस तरह उनके कर्म में प्राकृतिक अनिवार्यता पाई जाती है। वस्तुतः अबौद्धिक प्राणियों की क्रियाओं को 'कर्म' न कहकर "व्यवहार" कहना चाहिए। 'कर्म' शब्द बौद्धिक प्राणियों के संदर्भ में

१. एबॉट भी अन्य विद्वानों के इस मत से सहमत हैं कि कांट के नैतिक सिद्धान्त की आश्चर्यजनक विलक्षणता उसका कांट की तत्वमीमांसा से सम्बद्ध होना है।

उपयुक्त है। 'कर्म' ज्ञान की अपेक्षा रखता है; किन्तु व्यवहार 'मूल प्रवृत्तियों' से संचालित भी हो सकता है, तथा होता है।

मनुष्य और पशु में सबसे बड़ा भेद इसी विशेषता के कारण है कि मनुष्य के कर्म अथवा, बोलचाल की भाषा में, उसका व्यवहार स्वप्रेरित हो सकता है अर्थात् उसके कर्म उसके ही संकल्प द्वारा प्रेरित हो सकते हैं। अब चूँकि कर्म का प्रेरक या कारण स्वयं मनुष्य का ही संकल्प रहता है अन्य कुछ नहीं, अतः इस दृष्टि से मनुष्य का बौद्धिक प्राणी स्वतंत्र है। पशुओं में यह स्वतन्त्रता नहीं पाई जाती। इसके स्थान पर उनके व्यवहार में 'प्राकृतिक अनिवार्यता' पाई जाती है क्योंकि उनके कर्म या व्यवहार मूलप्रवृत्तियों आदि से अथवा अन्य बाह्य कारणों से प्रेरित होते हैं। वस्तुतः पशुओं में 'बुद्धि-तत्व' या 'संकल्प-तत्व' पाया ही नहीं जाता। यही कारण है कि पशुओं को कांट "अ-बौद्धिक" के वर्ग में रखते हैं। यदि 'अ-बौद्धिक (Non-rational) के अन्तर्गत 'अचेतन' को लिया जाये, तो हम पाते हैं कि अचेतन वस्तुओं में भी प्राकृतिक अनिवार्यता पाई जाती है। उनमें भी स्वतंत्रता नहीं पाई जाती, क्योंकि अचेतन होने के कारण उनमें बुद्धि या संकल्प शक्ति पाये जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। उदाहरणार्थ, यदि एक गेंद धक्का देकर दूसरी गेंद को गति प्रदान करती है, तो वह ऐसा इसलिये कर पाती है क्योंकि उसे स्वयं अन्य किसी के द्वारा गति प्रदान की गई है। इस तरह, अन्ततः गति प्रदान करने वाला मनुष्य रहता है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर स्वतन्त्रता की परिभाषा निम्नलिखित होगी—

"स्वतन्त्रता बौद्धिक प्राणियों के संकल्प में पाई जाने वाली वह विशेषता है जिसके कारण मानव-संकल्प अथवा बौद्धिक प्राणी, बाह्य कारणों के प्रभाव से पूर्णतः मुक्त रहकर स्वतन्त्र रूप से कर्म में समर्थ होता है।"

यह परिभाषा "निषेधात्मक" है। परिणामतः इसकी सहायता से हम स्वतन्त्रता के सारतत्व को समझने में समर्थ नहीं हो पाते। नियमहीन स्वतन्त्र संकल्प का प्रत्यय एक आत्म-विरोधी प्रत्यय है, अतः हमें स्वतंत्रता के अपने वर्णन को "भावात्मक" बनाना चाहिए। भावात्मक वर्णन के अनुसार हम यह कहेंगे कि स्वतंत्र संकल्प सदैव नियमों के अधीन रहकर कर्म करता है; किन्तु ये नियम उसके ऊपर अन्य किसी बाहरी चीज द्वारा आरोपित नहीं किये जाते। ये स्वयं उसके ही द्वारा अपने पर आरोपित किये जाते हैं। यदि हम यह मानें कि ये नियम संकल्प-बाह्य किसी चीज द्वारा संकल्प के लिये निर्मित किये जाते हैं तथा वह बाह्य चीज ही हमारे संकल्प को इन नियमों के अनुसार कर्म करने को बाध्य करती है, तो ये नियम

प्राकृतिक अनिवार्यता के नियम कहे जायेंगे। किन्तु वस्तुतः ये स्वतन्त्रता के नियम हैं। स्वतन्त्रता के नियम कभी भी किसी अन्य चीज द्वारा संकल्प पर आरोपित नहीं किये जा सकते। उनका आत्म-आरोपित होना परमावश्यक है। इसका अर्थ यही हुआ कि 'स्वतन्त्रता' तथा 'संकल्प-स्वातन्त्र्य' एक ही चीज है अथवा उनमें पूर्ण तादात्म्य है। चूँकि संकल्प स्वातंत्र्य नैतिकता का सिद्धान्त है अतः स्वतन्त्र संकल्प उस संकल्प को कहा जायेगा जो संकल्प नैतिक नियमों के अधीन रहकर कर्म करता है।

कांट ने "कारणता" की चर्चा की है। यह हमें विदित ही है कि कारणता का प्रत्यय कारणता के नियम की ओर संकेत करता है। कारणता का नियम यह दर्शाता है कि यदि हम किसी चीज जो 'कारण' कहते हैं, तो अवश्य ही ऐसी कोई चीज भी होगी जिसे उस कारण का 'कार्य' कहा जाये। अब यदि नैतिकता के क्षेत्र में हम इसे लागू करें, तो संकल्प की स्वतन्त्रता को "नियमहीन होने की विशेषता" के रूप में निरूपित नहीं किया जा सकता। संकल्प की स्वतंत्रता को एक ऐसी कारणता के रूप में स्वीकार करना होगा जो अपरिवर्तनीय नियमों के अनुरूप है। भेद यह है कि ये अपरिवर्तननीय (immutable) नियम प्रकृति के नियम न होकर, संकल्प या व्यावहारिक बुद्धि के ही नियम होते हैं। यदि हम इन नियमों को संकल्प-प्रसूत न मानें तो स्वतन्त्र संकल्प का प्रत्यय ही आत्म-विरोधी हो जाता है। प्राकृतिक अनिवार्यता निमित्त कारणों (Efficient causes) का पारतन्त्र्य ही हैं। निमित्त कारणों के अधीन होना ही प्राकृतिक अनिवार्यता है। इसके विपरीत, स्वतन्ता का अर्थ अपने ही अधीन रहना है। यह तर्कवाक्य कि "संकल्प अपने समस्त कर्मों के करते समय स्वयं ही अपना नियम है," कर्म के उस सिद्धान्त को अभिव्यक्त करता है जिसके अनुसार केवल उस ही विषयीगत नियम के आधार पर हमारा सकल्प कर्म कर रहा है जो नियम उसी समय एक सार्वभौमिक नियम हो सकता है। संक्षेप में, यही निरपेक्ष आदेश का सूत्र तथा नैतिकता का सिद्धान्त है। अतः संकल्प को 'स्वतन्त्र' कहना तथा उसे "नैतिक नियमों के अधीन" कहना एक ही बात है। यहाँ यह स्मरणीय है कि जब संकल्प को नैतिक नियम के अधीन कहा जाता है तो उसका अर्थ यह कदापि नहीं होता कि वह ऐसा संकल्प है जो सदैव (हर स्थिति में) नैतिक नियमों के अनुसार कर्म करता है। संकल्प को नैतिक नियमों के अधीन कहने का उद्देश्य इस तथ्य को प्रकाश में लाना है कि 'यदि' बुद्धि का तृष्णाओं (passions) आदि पर पूर्ण नियन्त्रण हो, तो संकल्प अवश्य ही नैतिक नियमों के अनुसार कर्म करेगा। यहाँ तक कि अशुभ संकल्प भी नैतिक नियमों के अधीन रहता है

और इस दृष्टि से वह भी स्वतंत्र है, किन्तु चूँकि वह इन नैतिक नियमों के अनुसार कर्म नहीं करता है अतः उसे सच्चे अर्थों में स्वतंत्र नहीं कहा जा सकता। नैतिक नियमों के अधीन होना एक बात है और उनके अधीन होकर कर्म करना अथवा नैतिक नियमों के अनुरूप कर्म करना दूसरी। शुभ संकल्प नियमाधीन भी रहता है, व उन नियमों के अनुरूप कर्म भी करता है। इसके विपरीत, अशुभ संकल्प नियमाधीन तो होता है पर उन नियमों की अवहेलना कर वह उसके अनुसार कर्म नहीं करता।

यदि हम संकल्प की स्वतंत्रता को पहिले ही स्वीकार कर लेते हैं तो नैतिकता तथा नैतिकता का सिद्धांत—संकल्प का स्वातंत्र्य—स्वतंत्रता के प्रत्यय का विश्लेषण करने पर हमें स्वतः ही प्राप्त हो जाते हैं। फिर भी हमें यह जानना चाहिए कि कांट के मत में नैतिकता का सिद्धान्त सदा ही एक संश्लेषणात्मक तर्कवाक्य है जिसे हम इस तरह अभिव्यक्त कर सकते हैं कि—

"परम रूप से शुभ रहनेवाला संकल्प अर्थात् शुभ संकल्प एक ऐसा संकल्प है जिसका विषयीगत सिद्धांत एक सार्वभौमिक नियम के रूप में सदैव अपनी अन्तर्वस्तु (content) स्वयं ही हो सकता है।"

कहने का तात्पर्य यह है कि पूर्णतः शुभ संकल्प का विषयीगत नियम सदैव एक सार्वभौमिक नियम हो सकता है। नैतिकता का यह सिद्धांत संश्लेषणात्मक है। यह संश्लेषणात्मक इसलिए है कि यदि हम "परम रूप से शुभ रहने वाले संकल्प" के प्रत्यय का विशेषण करें, तो उसके विषयीगत सिद्धांत में "सार्वभौमिकता" नामक उपर्युक्त विशेषता हम नहीं खोज सकते। इस तरह शुभ संकल्प के प्रत्यय में उसके विषयीगत नियम की सार्वभौमिकता निहित नहीं है। अब चूँकि यह संश्लेषणात्मक तर्कवाक्य है अतः हमें एक ऐसे तृतीय पद या हेतु की आवश्यकता पड़ती है जो इस तर्कवाक्य के उद्देश्य-पद तथा विधेय-पद को परस्पर सम्बद्ध करे। दो ज्ञान (cognitions) या प्रत्ययों को जोड़ने वाले तृतीय ज्ञान या प्रत्यय के अभाव में संश्लेषणात्मक तर्कवाक्य में संभव नहीं है। यह तृतीय प्रत्यय 'हेतु' कहलाता है जिसमें प्रथम दोनों प्रत्यय अन्तर्निहित रहते हैं। चूँकि प्रथम दोनों प्रत्यय या पद तीसरे पद या प्रत्यय से एक ही साथ सम्बन्धित रहते हैं अतः इस तीसरे पद या प्रत्यय के माध्यम से वे परस्पर भी सम्बन्धित हो जाते हैं। यही कारण है कि कई बार इस तृतीय पद को 'मध्यस्थ' पद भी कहा जाता है। कांट के मतानुसार स्वतन्त्रता की भावात्मक परिभाषा अथवा उसका भावात्मक प्रत्यय ही यह तृतीय पद या

प्रत्यय हमें प्रदान करता है। यह तृतीय पद इन्द्रियात्मक जगत् की प्रकृति का नहीं हो सकता अर्थात् कोई भौतिक प्रत्यय तृतीय प्रत्यय नहीं हो सकता। भौतिक जगत के सन्दर्भ में जब हम कारणता के नियम की चर्चा करते हैं, तो यह मानते हैं कि इन्द्रियात्मक अथवा भौतिक जगत में पाई जाने वाली कोई कोई एक वस्तु "कारण" है तथा अन्य कोई दूसरी वस्तु उसका 'कार्य" है। भौतिक जगत में हम एक ही वस्तु को कारण तथा कार्य, दोनों के रूप में नहीं देखते। पर प्रश्न उठता है कि यह तृतीय पद क्या है, जिसकी ओर स्वतंत्रता संकेत करती है तथा जिसका विचार प्राक् आनुभविक है। कांट बतलाते हैं कि अभी अर्थात् इसी क्षण हम इसका उत्तर नहीं दे सकते। आगे चलकर कांट ने इसका उत्तर दिया है। उनके अनुसार यह तृतीय पद हमारे ऐसे संकल्प का निरुपाधिक प्रत्यय है जो संकल्प बौद्धिक जगत् से संबंधित है तथा जो संकल्प अपने ही लिए क्रियाशील है अर्थात् जो स्वतंत्र है। कांट यह भी स्वीकार करते हैं कि नैतिकता के सम्बन्ध में हमारी चर्चा अब तक जहाँ पहुँची है, उसके आधार पर विशुद्ध व्यावहारिक बुद्धि के प्रत्यय से स्वतंत्रता के प्रत्यय का निगमन नहीं समझाया जा सकता, और जब यह निगमन अभी नहीं समझाया जा सकता, तो निरपेक्ष आदेश की संभावना भी नहीं दर्शायी जा सकती। इसके लिए अभी और तैयारी की आवश्यकता है। ऐसा अनुभव करते हुए कांट आगे कहते हैं कि समस्त बौद्धिक प्राणियों के वस्तुधर्म (property) के रूप में 'स्वतंत्रता' की पूर्वकल्पना अवश्य की जाना चाहिए।

बौद्धिक प्राणियों के संकल्प की विशेषता-स्वतंत्रता

नैतिकता के क्षेत्र में कांट स्वतंत्रता को अनिवार्य पूर्वमान्यता (presupposition) स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि केवल अपने संकल्प को स्वतन्त्र मानना किसी भी आधार पर पर्याप्त नहीं है। हम अपने संकल्प को तब तक स्वतन्त्र नहीं मान सकते जब तक हमारे पास समस्त बौद्धिक प्राणियों को भी स्वतन्त्र मानने के लिए पर्याप्त कारण न हो। चूँकि नैतिकता हमारे बौद्धिक प्राणी होने की विशेषता के कारण ही हमारे लिए नियम है अतः यह समस्त बौद्धिक प्राणियों के लिए समान रूप से प्रामाणिक होना चाहिए और चूँकि नैतिकता पूर्णतः स्वतन्त्रता की विशेषता से निर्गमित की जाती है अतः हम यह सिद्ध कर सकते हैं कि स्वतंत्रता भी समस्त बौद्धिक प्राणियों के संकल्प की एक विशेषता है।

कांट की दृष्टि में मानव-प्रकृति के कुछ निर्दिष्ट अनुभवों से इस स्वतंत्रता

को प्रमाणित करना पर्याप्त नहीं है। कांट तो यहाँ तक मानते हैं कि किसी भी स्थिति में ऐसा करना नितांत असंभव भी है। स्वतन्त्रता को केवल प्राक्-आनुभविक रूप से ही सिद्ध किया जा सकता है। स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में हमें यह प्रमाणित करना होता है कि स्वतन्त्रता सार्वभौमिक रूप से प्रत्येक बौद्धिक प्राणी के संकल्प की प्रक्रिया (activity) से सम्बद्ध है। कांट दृढ़तापूर्वक यह मानते हैं कि जो भी बौद्धिक प्राणी केवल स्वतन्त्रता का विचार स्वीकार कर उसके ही अनुसार कर्म कर सकता है वह व्यावहारिक दृष्टि से वस्तुतः स्वतन्त्र है।

"बौद्धिक प्राणी का संकल्प अनिवार्यतः स्वतन्त्र है"—इस कथन को कभी भी मानवीय कर्म के किसी भी अनुभव द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता है। न ही इसे दार्शनिक सिद्धान्त के दृष्टिकोण से प्रमाणित किया जा सकता है। संक्षेप में, इसे न तो इन्द्रियानुभव द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है, और न ही दार्शनिक सिद्धान्तों द्वारा। कर्म के उद्देश्य से इतना दर्शाना पर्याप्त होगा कि एक बौद्धिक प्राणी केवल स्वतन्त्रता की पूर्वकल्पना या पूर्वमान्यता के अन्तर्गत ही नैतिक कर्म कर सकता है। हमें स्वतन्त्रता को 'पूर्वमान्यता' के रूप में स्वीकार करना होगा, क्योंकि, जैसा कि आगे कहा गया है, इसे अनुभव या सिद्धांत, किसी के भी द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता। जब हम स्वतन्त्रता को पूर्वमान्यता के रूप में स्वीकार कर लेते हैं, तब हमें यह समझने में सुविधा होती है कि स्वतन्त्रता पर आधारित नैतिक नियम किसी बौद्धिक प्राणी के लिए उतने ही प्रामाणिक होते जायेंगे जितना उसे स्वतन्त्र जाना जायेगा। अपनी स्वतन्त्रता के ज्ञान के साथ ही बौद्धिक प्राणी को नैतिक नियमों की प्रामाणिकता का भी ज्ञान हो जाता है क्योंकि स्वतन्त्रता व नैतिक नियमों में घनिष्ट संबन्ध है। स्वतन्त्रता नैतिक नियमों का आधार है।

कांट स्वीकार करते हैं कि बौद्धिक प्राणियों में "सैद्धान्तिक बुद्धि" (Theoretical Reason) पाई जाती है। इस बुद्धि को अनिवार्य रूप से स्वतन्त्रता की पूर्वमान्यता के आधार पर कर्म करना चाहिए। इस बुद्धि को जानना चाहिए कि वह निषेधात्मक तथा भावात्मक दोनों ही दृष्टियों से स्वतन्त्र है। निषेधात्मक रूप से स्वतन्त्र होने का बोध बुद्धि को होना चाहिए अर्थात् उसे यह पहिले ही मान लेना चाहिए कि वह बाहरी प्रभावों द्वारा कर्म के लिए प्रेरित नहीं की जाती। साथ ही उसे अपनी भावात्मक स्वतत्रता

का भी ज्ञान होना चाहिए अर्थात् उसे यह भी जानना चाहिए कि अपने सिद्धांतों का स्रोत् वह स्वयं ही है । कांट कहते हैं कि यदि एक बौद्धिक "ज्ञाता" यह मान ले कि उसके निर्णय बौद्धिक सिद्धांतों द्वारा निर्धारित न किये जाकर, चित्तवृत्ति द्वारा निर्धारित किये गये हैं, तो वह ऐसे निर्णयों को कभी भी अपने निर्णय नहीं मान सकता । बुद्धि को अपना ज्ञान अपने सिद्धान्तों के प्रवर्तक के रूप में होना चाहिए ।

यह बात जो सैद्धान्तिक बुद्धि के संबंध में कही गई है वही व्यावहारिक बुद्धि के सम्बन्ध में भी सत्य है । एक बौद्धिक "कर्ता" को अपने को इस रूप में भी देखना चाहिए कि वह अपने ही बौद्धिक सिद्धान्तों के आधार पर कर्म करने में समर्थ है। अपने को इस तरह "स्वतंत्र" प्राणी के रूप में देखने पर ही वह अपने संकल्प को "अपना" मान सकता है । तात्पर्य यह है कि व्यावहारिक दृष्टिकोण से प्रत्येक बौद्धिक कर्ता को अवश्य ही अपने संकल्प को स्वतन्त्र मानना चाहिए । इस संदर्भ में यह दृष्टव्य है कि जब कांट सैद्धान्तिक बुद्धि की चर्चा करते हैं तब वे बौद्धिक प्राणी के लिए बौद्धिक "ज्ञाता" शब्द का प्रयोग करते हैं और जब वे व्यावहारिक बुद्धि की चर्चा करते हैं तब बौद्धिक प्राणी के लिए बौद्धिक "कर्ता" शब्द का प्रयोग करते हैं । इस प्रकार कांट यह बताते हैं कि स्वतन्त्रता जिस तरह समस्त कर्मों की अनिवार्य पूर्वमान्यता है, उसी तरह वह समस्त चिंतन की भी अनिवार्य पूर्वमान्यता है ।

नैतिकता के विचारों से संलग्न रुचि

(नैतिक रुचि तथा चक्रक तर्कदोष)

हम तर्क द्वारा यह सिद्ध कर चुके हैं कि अपने कर्म में बौद्धिक प्राणियों को सदैव अपनी स्वतन्त्रता को स्वीकार कर प्रवृत्त होना चाहिए । स्वतन्त्रता नैतिकता की अनिवार्य पूर्वमान्यता है । इससे ही संकल्प-स्वातंत्र्य का सिद्धांत तथा निरपेक्ष आदेश निर्गमित होते हैं । इस तरह हम नैतिकता के सिद्धांत का सूत्रों के माध्यम से उचित रूप में वर्णन करने में सफल हुए हैं । फिर भी अभी तक कांट यह सिद्ध नहीं कर सके हैं कि स्वतन्त्रता की हममें या मानव-प्रकृति में "वास्तविक" सत्ता है । उन्होंने केवल इतना ही बताया है कि यदि हम किसी प्राणी को बौद्धिक प्राणी के रूप में तथा संकल्प-संपन्न प्राणी के रूप में देखने के इच्छुक हैं, तो हमें स्वतन्त्रता को पहिले ही स्वीकार कर लेना होगा । 'बुद्धि' तथा 'संकल्प' से युक्त प्राणी अर्थात् मानव के लिए

इसी आधार पर यह स्वीकार करना नितांत आवश्यक है कि उसमें अपनी ही स्वतन्त्रता के विचार के अधीन रहकर कर्म करने की विशेषता पाई जाती है।

हम यह भी देख चुके हैं कि स्वतन्त्रता के विचार की इस पूर्वमान्यता से हममें कर्म के नियम की चेतना जागृत होती है। कर्म का यह नियम बताता है कि कर्म के विषयीगत सिद्धांतों को इस तरह से स्वीकार किया जाना चाहिए कि वे वस्तुगत रूप से भी सिद्धांत बन सकें। हमें ऐसे विषयीगत सिद्धांतों का ही चयन करना चाहिए जो सार्वभौमिक सिद्धांतों के रूप में भी स्वीकार किये जा सकते हों। विषयीगत नियमों की सार्वभौमिक नियम बन सकने की विशेषता के कारण ही हम अपने को सार्वभौमिक नियम के निर्माता के रूप में जान सकते हैं।

अब जो प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होता है वह महत्वपूर्ण है। प्रश्न उठता है कि बौद्धिक प्राणी के रूप में हम क्यों उपर्युक्त सिद्धांत के अधीन रहें ? तथा, इस तरह अपने को बौद्धिक प्राणी होने के नाते सिद्धांताधीन मानकर क्यों अन्य समस्त बौद्धिक प्राणियों को भी इसके अधीन मानें ? यह प्रश्न भी उपस्थित होता है कि क्यों हमें नैतिक कर्म को सर्वोच्च मूल्य देना चाहिए ? यह भी पूछा जा सकता है कि क्यों नैतिक श्रेष्ठता में हम रुचि लें ? इन प्रश्नों के उत्तर देना सहज नहीं है। कांट यह स्वीकार करते हैं कि सिद्धान्ताधीन रहने के लिए हमें कोई रुचि प्रेरित नहीं करती। यदि हम रुचि को प्रेरक या कारण मानें तो निरपेक्ष आदेश असंभव हो जायेंगे। रुचि के आधार पर किसी निरपेक्ष आदेश का निर्माण नहीं किया जा सकता क्योंकि रुचि व्यक्तिगत होती है, सार्वभौमिक नहीं। व्यक्ति-सापेक्ष रुचि कभी भी 'निरपेक्ष' आदेश का आधार नहीं हो सकती। इतना होने पर भी कांट यह मानते हैं कि वस्तुतः हम नैतिक कर्म अथवा नैतिक श्रेष्ठता अथवा नैतिक नियमों में रुचि लेते हैं। कांट तो इतना तक कहते हैं कि हमें बौद्धिक प्राणी होने के कारण इनमें अनिवार्यतः रुचि लेना होगी और यह देखना होगा कि यह किस प्रकार घटित होता है। सूक्ष्म निरीक्षण किया जाये तो हम यह पायेंगे कि यहाँ पर कांट की बातों में कोई आत्मविरोध नहीं है। उनका कहना केवल इतना ही है कि 'रुचि' नैतिकता का "आधार" कभी नहीं हो सकती, पर नैतिकता में "रुचि" ली जा सकती है वा ली जाना चाहिए। नैतिक कर्म में हमें रुचि इसलिए लेना चाहिए कि नैतिक नियम में जो

"मुझे करना चाहिए" के रूप में अभिव्यक्त होता है, वह वस्तुतः "मैं इच्छा करता हूँ" (I will) ही है। यह बात प्रत्येक उस बौद्धिक प्राणी पर लागू होती है जिसकी बुद्धि बिना किसी बाधा या अवरोध के पूर्ण व्यावहारिक है।

अब प्रश्न उठता है कि जिस कर्म के लिए हम स्वयं ही संकल्प करते हैं अथवा जिसकी हम स्वयं ही इच्छा करते हैं, उसके संदर्भ में हमें "चाहिए" या "बाध्यता" अथवा "कर्तव्यता" की अनुभूति क्यों होती है ? जो 'I will' है वह 'I ought' के रूप में क्यों अनुभव होता है ? कांट उत्तर देते हुए इसका मुख्य कारण यह बताते हैं कि बौद्धिक प्राणी होने के बावजूद मानव इन्द्रियात्मकता से भी प्रभावित रहता है अर्थात् मानव के कर्म विभिन्न प्रकार के अनुभवात्मक प्रेरकों के द्वारा भी प्रेरित होते हैं। अनुभवात्मक प्रेरकों से भी प्रभावित होने के कारण मानव के कर्म सदैव केवल बुद्धि द्वारा संचालित नहीं होते। इस तरह मानव में एक ओर रहते हैं इन्द्रियानुभवजन्य प्रेरक तथा दूसरी ओर रहती है बुद्धि। "इन्द्रियानुभव" तथा "बुद्धि" के पारस्परिक संघर्ष के कारण मानव द्वन्द्व की स्थिति में रहता है। यद्यपि नैतिक नियम मानस के संकल्प अथवा व्यावहारिक बुद्धि के ही उत्पाद्य हैं, तथापि उसके संकल्प अथवा बुद्धि पर अनुभवात्मक प्रेरकों का आवरण पड़ा रहने से वह उन्हें बुद्धि-प्रसूत नियमों के रूप में नहीं देख पाता और न ही वह अपने को स्वतंत्र प्राणी के रूप में देख पाता है। अनुभवात्मक प्रेरकों के प्रभाव के कारण नैतिक नियम मानव के समक्ष बाध्यता के रूप में प्रस्तुत होते हैं। इस बाध्यता को मानव "मुझे अमुक कर्म करना चाहिए" के रूप में अभिव्यक्त करता है। कांट कहते हैं कि यह "विषयीगत बाध्यता" नैतिक नियमों की "वस्तुगत" बाध्यता" के भिन्न है।

ऐसा लगता है मानो कांट ने स्वतंत्रता के अपने विचार में नैतिक नियमों को बिना किसी आलोचना के पहिले ही सत्य स्वीकार कर लिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि कांट ने संकल्प-स्वातंत्र्य के सिद्धांत को पहले से ही प्रामाणिक मान लिया है तथा वे इसकी वास्तविक सत्ता व वस्तुगत अनिवार्यता को सिद्ध करने के लिए कोई भी स्वतंत्र प्रमाण प्रस्तुत करने में असमर्थ रहे हैं। फिर भी इतना लाभ अवश्य हुआ है कि उन्होंने स्वातंत्र्य के सिद्धांत को और भी अच्छे तरीके से सूत्र रूप में प्रस्तुत किया है। जहाँ तक संकल्प-स्वातंत्र्य की प्रामाणिकता का प्रश्न है, तथा इसके प्रति हमारी अधीनता की व्यावहारिक बाध्यता का प्रश्न है, कांट के चिंतन में कोई प्रगति परिलक्षित

नहीं हुई है । कांट इसे स्वयं स्वीकार करते हैं ।

कांट की दृष्टि में अब हमारे सामने यह महत्वपूर्ण प्रश्न है कि एक सार्वभौमिक नियम के रूप में हमारे विषयीगत नियम की प्रामाणिकता, हमारे कर्म के निर्धारण की अनिवार्य शर्त क्यों होना चाहिए ? और भी प्रश्न हैं जिनका उपयुक्त उत्तर देने में अभी तक कांट असमर्थ रहे हैं । जैसे एक प्रश्न यह उठता है कि हम क्यों नैतिक कर्म को श्रेष्ठ मानते हैं ? एक और प्रश्न है कि हम क्यों नैतिकता के आगे सुख या दुख की चिंता नहीं करते ?

कांट कहते हैं कि यह निःसंदेह सत्य है कि हम नैतिक श्रेष्ठता में रुचि लेते हैं । उदाहरणार्थ, नैतिक सुख का तथ्य उस सुख में सम्मिलित होने के प्रेरक के बिना ही, अपने आप में हमें रुचिकर लग सकता है । परिष्कृत अथवा नैतिक सुख "रुचिकर है", इस के प्रकार के निर्णय नैतिक नियमों में पाई जाने वाली उस महत्ता के परिणाम होते हैं जो हम नैतिक नियमों में पहिले ही से स्वीकार कर लिया करते हैं । ऐसे निर्णय हम तभी लेते हैं जब स्वतन्त्रता के अपने विचार द्वारा हम अपने को प्रत्येक अनुभवात्मक रुचि से असम्पृक्त कर लेते हैं । लेकिन नैतिक नियमों की महत्ता के आधार पर हम इस सिद्धांत को नहीं समझ सकते हमें अपने आपको अनुभवात्मक रुचि से पृथक् कर लेना चाहिए ।

एक ओर तो हम यह कहते हैं कि कर्म करते समय अपने आपको "स्वतन्त्र" मानना चाहिए तथा दूसरी ओर यह भी कहते हैं कि हमें कुछ निश्चित नियमों के "अधीन" रहना चाहिए । हम यह नहीं देख पाते कि इन दो विरोधी बातों की एक ही समय में सत्ता व सत्यता कैसे सम्भव है ? जब हमारे पास इसका उत्तर नहीं है तो परिणामस्वरूप इस प्रश्न का भी उत्तर नहीं है कि नैतिक नियम किस प्रकार हमारे लिए बाध्य या अनिवार्य हो सकते हैं ? कांट कहते हैं कि नैतिकता में हमारी रुचि इसलिए जागृत होती है क्योंकि हम पहले ही अर्थात् बिना किसी तर्क के यह स्वीकार कर लेते हैं कि नैतिक नियम अनिवार्य है । वे अनिवार्य या हम पर लागू होने वाले क्यों हैं, इसका उत्तर हमारे पास नहीं होता । उपर्युक्त चर्चा से ऐसा प्रतीत होता है मानों कांट के नीतिशास्त्र में चक्रक दोष आ गया है । चक्रक दोष का यह आक्षेप इसलिए किया जा सकता है क्योंकि पहले तो कांट यह सिद्ध करते हैं कि हमें अपने आपको "स्वतंत्र" समझना चाहिए क्योंकि हम स्वनिर्मित नैतिक नियमों के अधीन हैं । फिर वे यह सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं कि हमें

नैतिक नियमों के "अधीन" रहना चाहिए, क्योंकि हम अपने आपको स्वतंत्र मानते हैं। इस चक्रक दोष से मुक्ति असम्भव जान पड़ती है। इस बिन्दु पर आकर नैतिकता को अत्यधिक महत्व देने वाले कांट कहते हैं कि उपर्युक्त विधि से घुमाफिराकर नैतिकता की चर्चा करना एक बात है और नैतिक नियम की पुष्टि के लिए प्रमाण प्रस्तुत करना दूसरी। इसका तात्पर्य यह है कि कांट नैतिकता के क्षेत्र में तर्क-वितर्क में उलझे रहने को अच्छा नहीं मानते। कांट कहते हैं कि स्वतन्त्रता तथा संकल्प द्वारा अपने नियमों का स्वयं ही निर्माण करना, दोनों ही संकल्प-स्वातंत्र्य की ओर संकेत करते हैं अतः वे दोनों अन्योन्याश्रित हैं। किन्तु इस आधार पर उनमें से एक का प्रयोग दूसरे की व्याख्या करने के लिए अथवा दूसरे के लिए प्रमाण प्रस्तुत करने के लिए नहीं किया जा सकता। जब हम ऐसा करते हैं तब ही चक्रक दोष में फंसते हैं।

दो दृष्टिकोण

कांट चक्रक तर्कदोष से बचने का तरीका भी बताते हैं। उनके अनुसार चक्रक तर्कदोष से बचने का एक ही तरीका हमारे पास शेष रह जाता है। यह तरीका है दो पृथक्-पृथक् दृष्टिकोणों से नैतिकता को समझना। एक दृष्टिकोण से हम अपने को स्वतंत्र रूप से कर्म करने वाले कर्ता के रूप में जानते हैं तथा, दूसरा दृष्टिकोण वह है जिसके अनुसार हम अपने कर्मों को दृष्ट घटनाओं के रूप में सोचते हैं।

यहाँ यह स्मरणीय है कि दो दृष्टिकोणों का यह सिद्धांत कांट के 'आलोचनात्मक दर्शन' का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। कांट का आलोचनात्मक दर्शन इसकी पृष्ठभूमि है। किन्तु चूँकि कांट ने यहाँ अपने दर्शन के इस पक्ष को सविस्तार प्रस्तुत नहीं किया है अतः उसे एक कठिनाई का सामना करना पड़ता है। इस कठिनाई के दो पक्ष हैं एक तो कांट यह नहीं स्वीकार कर सकते कि तनके पाठक "विशुद्ध बुद्धि की मीमांसा" नामक उनके ग्रन्थ में सविस्तार प्रस्तुत किये गये उनके समस्त तर्कों से परिचित होंगे। दूसरी ओर वे नीतिशास्त्र की अपनी छोटी-सी पुस्तक में उन तर्कों को सविस्तार प्रस्तुत करने का प्रयास भी नहीं कर सकते हैं। परिणामस्वरूप वे विस्तार में न जाकर, यहाँ कुछ प्रारम्भिक विचारों का ही उल्लेख करते हैं। यदि इन प्रारम्भिक विचारों को अपने आप में देखा जाये तो ये अधिक विश्वसनीय सिद्ध नहीं हो सकते; किन्तु कांट के समक्ष इनकी चर्चा करने के अतिरिक्त

अन्य कोई मार्ग शेष नहीं था। दो दृष्टिकोणों को समझने के लिए कांट के आलोचनात्मक दर्शन के निम्नलिखित विचार जानना आवश्यक है :

कांट मानते हैं कि हमारी इन्द्रियों को प्रदत्त समस्त प्रत्यय हमारे संकल्प के बिना ही हमें प्राप्त होते हैं। हम यह कल्पना करते हैं कि ये प्रत्यय हमें वस्तुओं से प्राप्त हुए हैं, किन्तु इन इन्द्रियात्मक प्रत्ययों की सहायता से हम वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को नहीं जान सकते। वस्तुयें अपने आप में क्या हैं? यह अज्ञेय है। इन प्रत्ययों की सहायता से हमें वस्तुओं के केवल उस रूप का ज्ञान प्राप्त होता है जिस रूप में वे हमें प्रभावित करती हैं। इस तरह प्रत्येक वस्तु के या समस्त वस्तुओं के दो पक्ष होते हैं। इन दो पक्षों में पहला है—वस्तुएं जैसी कि वे हमें 'प्रतीत' होती हैं अर्थात् वस्तुओं का प्रतीत्यमान रूप ((Things-as-they-appear) दूसरा पक्ष है—वस्तुएं जैसी कि वे अपने आप में हैं अर्थात् उनका सारभूत स्वरूप। कांट वस्तुओं के पहिले रूप को "आभास" (Appearances) कहते हैं तथा दूसरे को अपने आप में वस्तुएँ (Things-in-themselves)। अपने आलोचनात्मक दर्शन में कांट ने "आभासों" को "फिनोमिना" व "अपने आप में वस्तुओं" या स्वलक्षण वस्तुसत् "न्यूमिना" कहा है। स्मरणीय है कि यह भेद दो प्रकार की वस्तुओं की ओर संकेत न कर, एक ही वस्तु के दो पक्षों को प्रकाश में लाता है।

हम चाहे कितना भी प्रयत्न क्यों न करें इन्द्रियों द्वारा प्राप्त प्रत्यय हमें कभी भी "न्यूमिना" (Noumena) का ज्ञान नहीं दे सकते। वे आभासों (phenomena) का ज्ञान प्राप्त करने में ही हमारी सहायता करते हैं। जो प्रत्यय हम बाह्य जगत् से प्राप्त करते हैं, या इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त करते हैं उन्हें प्राप्त करते समय हम निष्क्रिय रहते हैं अर्थात् उन्हें प्राप्त करने में हम अपने संकल्प का प्रयोग नहीं करते। इनके अतिरिक्त कुछ प्रत्यय ऐसे भी होते हैं जिन्हें हम पूर्णतः अपने आप ही उत्पन्न करते हैं। चूँकि हम इन प्रत्ययों को उत्पन्न करते हैं अर्थात् इनका निर्माण करते हैं अतः ये प्रत्यय हमारी सक्रियता को प्रकट करते हैं।

'फिनोमिना' व न्यूमिना' का उपर्युक्त भेद स्वीकार कर लेने पर, यह निष्कर्ष निकलता है कि हमें आभासों की पृष्ठभूमि में या परे एक ऐसी चीज की सत्ता अवश्य स्वीकार करना होगी अथवा ऐसी सत्ता की कल्पना अवश्य करना होगी जो आभास नहीं है। यह ठीक है कि हम "न्यूमिना" को कभी भी नहीं जान सकते तथापि हमें उसकी सत्ता स्वीकार करना होगी। 'न्यूमिना'

अज्ञेय है। हम 'न्यूमिना' का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। हम केवल उस विधि को ही जान सकते हैं जिस विधि से वे हमें प्रभावित करती हैं। "वस्तुयें अपने आप में कैसी हैं," यह जानने में हमारी बुद्धि पूर्णतः असमर्थ है। हम केवल उनका वह रूप जान पाते हैं जो हमें प्रतीत (appear) होता है।

उपर्युक्त भेद "इन्द्रियात्मक जगत्' तथा बौद्धिक जगत्' (intelligible world) के भेद की ओर संकेत करता है। कांट इन्द्रियात्मक जगत् उस जगत् को कहते हैं, जिसका ज्ञान हमें इन्द्रियों के माध्यम से होता है। बौद्धिक जगत् वह है जिसे हम चिन्तन द्वारा समझ (conceive) सकते हैं किन्तु जिसका ज्ञान हम इसलिए प्राप्त नहीं कर सकते क्योंकि समस्त मानवीय ज्ञान इन्द्रियानुभव (sensing) तथा चिंतन (conceiving) के संयोग की अपेक्षा रखता है; जबकि इसमें इन्द्रियों का कोई स्थान नहीं है। दृष्टाओं की इन्द्रियानुभूति की विभिन्नता के कारण इन्द्रियात्मक जगत् भिन्न-भिन्न हो सकते हैं; किन्तु बौद्धिक जगत् जो कि इन्द्रियात्मक जगत् का आधार है सदैव एक-सा रहता है।

यह भेद मानव के आत्मा संबंधी ज्ञान के संदर्भ में लागू होता है। अपने स्वरूप के संबंध में प्रत्येक व्यक्ति को जो ज्ञान होता है उसे ही यहाँ आत्मा सम्बन्धी ज्ञान कहा है। अन्तर्दर्शन अथवा आंतरिक संवेदना (Inner sense) द्वारा मनुष्य अपना ज्ञान प्राप्त कर सकता है; किन्तु कांट के मतानुसार इस तरह वह अपने उस रूप का ही ज्ञान प्राप्त कर पाता है जो अन्तर्दर्शन अथवा आंतरिक संवेदना द्वारा उसे 'प्रतीत' होता है। दूसरे शब्दों में, अन्तर्दर्शन उसे जिस रूप में प्रस्तुत करता है, व्यक्ति को अपना ज्ञान उसी रूप में होता है। यह ज्ञान 'आभास' का ज्ञान है। अतः अन्तर्दर्शन द्वारा अपना ज्ञान प्राप्त करके व्यक्ति यह जानने का दावा नहीं कर सकता कि वह अपने आप में क्या है, यह वह जानता है। चूँकि व्यक्ति अपना निर्माण स्वयं नहीं करता और चूँकि वह अपनी आत्मा का प्रत्यय प्राक्आनुभविक रूप से प्राप्त न कर, अनुभवात्मक रूप से प्राप्त करता है, अतः यह स्वाभाविक है कि वह अपना ज्ञान भी इन्द्रिय के माध्यम से प्राप्त करे अर्थात् आंतरिक संवेदना से प्राप्त करे। आंतरिक संवेदना के माध्यम से वह अपने स्वरूप के 'आभास मात्र' का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इसके माध्यम से उसे अपने वास्तविक रूप अथवा स्वरूप का ज्ञान कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्रियों की पहुंच ही सदा "आभास" तक रहती है। व्यक्ति को अपने इस रूप या आभास से परे एक ऐसी जीवात्मा की सत्ता मानना होगी जो "न्यूमिन्न"

है; जो स्वनिर्मित है, तथा जिसका ज्ञान हमें कभी भी नहीं हो सकता क्योंकि वह कभी भी हमारी इन्द्रियों का विषय नहीं बन सकता। अन्तर्दर्शन द्वारा व्यक्ति जब जीवात्मा का ज्ञान प्राप्त करने की बात करता है, तब वस्तुत: वह जिस चीज का ज्ञान प्राप्त करता है वह जीवात्मा नहीं होती वरन् जीवात्मा का "आभास" होता है। यह जीवात्मा का वह रूप होता है जो 'ज्ञेय' अर्थात् ज्ञान का विषय बन सकता है। अपने आप में जो जीवात्मा है अर्थात् वास्तविक जीवात्मा, वह सदैव "अज्ञेय' है। यही अज्ञेय जीवात्मा, जीवात्मा के आभास का आधार है।

जहाँ तक मनुष्य अन्तर्दर्शन द्वारा जाना जाता है, तथा जहाँ तक वह निष्क्रिय रूप से संवेदनाओं को ग्रहण करने में सक्षम है, वहाँ तक मनुष्य को स्वयं को "इन्द्रियात्मक जगत्' से संबंधित मानना चाहिए। जहाँ तक वह इन्द्रियों से पूर्णत: पृथक् रहकर विशुद्ध क्रिया करने में समर्थ है उस सीमा तक उसे अपने को "बौद्धिक जगत्"[1] से संबंधित मानना चाहिए। तथापि इस बौद्धिक जगत् के संबंध में मनुष्य और कुछ भी नहीं जान सकता है।

कांट का यह विचार है कि चिंतन की सामर्थ्य रखने वाले मनुष्य को वस्तुओं के संबंध में उपर्युक्त तरीके से ही सोचना चाहिए। वे कहते हैं कि अति सामान्य मानव-बुद्धि में भी यह प्रवृत्ति पाई जाती है कि वह इन्द्रियों के विषयों के परे किसी चीज की कल्पना करती है जो अदृष्ट है तथा जो स्वेच्छानुसार क्रियाशील है। यहाँ तक सामान्य बुद्धि की प्रवृत्ति को कांट उचित मानते हैं, पर जब सामान्य बुद्धि इस अदृष्ट तत्व को अपने इन्द्रियानुभव का विषय बनाना चाहती है तो वह अनुचित मार्ग का अनुसरण करती है। अज्ञेय तत्व के इन्द्रिय-बोध की बात कर वह अपनी मूर्खता प्रदर्शित करती है।

मनुष्य अपने में एक ऐसी शक्ति निहित पाता है जो उसे अन्य समस्त वस्तुओं से पृथक् करती है। इतना ही नहीं, यह शक्ति उसके इन्द्रियात्मक पक्ष को उसके बौद्धिक पक्ष से पृथक् करती है। यह शक्ति है मानव की बुद्धि। यहाँ 'बुद्धि' शब्द का प्रयोग उन्होंने परिभाषित अर्थ में अर्थात् "विचार करने की शक्ति" के लिए अथवा तर्कना (सैद्धांतिक बुद्धि) के लिए किया है। 'तर्कना

१. स्मरणीय है कि यहाँ 'Intelligible World' का वर्णन 'Intellectual World' के रूप में किया गया है तथा इससे उनका तात्पर्य एक ऐसे जगत् से है जो बौद्धिक (Intelligent) होने के कारण बोध्यगम्य (intelligible) है।

शक्ति' या सैद्धान्तिक बुद्धि (Reason) व बुद्धि (understanding) में कांट भेद करते हैं। बुद्धि से उनका तात्पर्य विकल्पों (categories) की शक्ति से रहता है। कांट कहते हैं कि विशुद्ध स्वेच्छा के रूप में तर्कनाशक्ति या सैद्धांतिक बुद्धि से कई आधार पर उत्कृष्ट है। बुद्धि (understanding) भी स्वच्छंद क्रिया है तथा इन्द्रियों के समान यह उन प्रत्ययों तक सीमित नहीं है जो हम बाह्य वस्तुओं के संपर्क में आने पर प्राप्त करते हैं; किन्तु इसमें व विशुद्ध सैद्धांतिक बुद्धि (Reason) में यह अन्तर है कि यह बुद्धि अपनी क्रिया द्वारा किसी भी ऐसे प्रत्यय को उत्पन्न नहीं कर सकती जो इन्द्रियानुभव से पूर्णतः स्वतंत्र हो। यह केवल उन्हीं प्रत्ययों को उत्पन्न करती है जिनका एकमात्र काम इन्द्रियात्मक प्रत्ययों को निश्चित नियमों के अन्तर्गत रखकर, उन्हें एक ही चेतना से जोड़ना है। इन्द्रियानुभव की सहायता के बिना यह बुद्धि कोई भी चिंतन नहीं कर सकती। दूसरी ओर है—विशुद्ध सैद्धांतिक बुद्धि। यह विचारों (ideas) की शक्ति है। यह निरपेक्ष प्रत्ययों का निर्माण करती है अर्थात् ऐसे प्रत्ययों को अपने आप उत्पन्न करती है जो इन्द्रियों से परे जाते हैं, तथा जिनका कोई भी उदाहरण हमें इन्द्रियात्मक जगत् में प्राप्त नहीं हो सकता। इस तरह तर्कना या विशुद्ध सैद्धान्तिक बुद्धि एक ऐसी विशुद्ध क्रियाशीलता को दर्शाती है जो इन्द्रियों से पूर्णतः स्वतंत्र है। इस विशुद्ध सैद्धांतिक बुद्धि का सर्वोत्तम कार्य है, इन्द्रियात्मक तथा बौद्धिक जगत् में भेद करना तथा बुद्धि (understanding) की सीमाएँ बताना। स्मरणीय है कि इन्द्रियात्मक जगत् की सीमाऐं दर्शाना तथा इन्द्रियाश्रित बुद्धि की सीमायें दर्शाना एक ही बात है क्योंकि इन्द्रियानुभव के अभाव में यह बुद्धि किसी भी प्रकार का चिंतन नहीं कर सकती। संक्षेप में, 'विशुद्ध सैद्धांतिक बुद्धि' अपने प्रत्ययों का निर्माण अपने ही द्वारा करती है। इन प्रत्ययों का निर्माण करते समय हम इन्द्रियानुभव से किसी प्रकार की सहायता नहीं लेती, जबकि इन्द्रियाश्रित बुद्धि (understanding) प्रत्ययों के निर्माण में इन्द्रियानुभव की सहायता लेती है। इस तरह इन्द्रियाश्रित बुद्धि की अपेक्षा विशुद्ध बुद्धि की क्रिया "विशुद्ध" है।

मनुष्य में विशुद्ध सैद्धांतिक बुद्धि नामक सर्वोच्च शक्ति है। अपनी इसी विशेषता के कारण मनुष्य को अपने को 'बुद्धिमान' के रूप में जानना चाहिए तथा उसे अपनी निम्नस्तरीय शक्तियों (faculties) की ओर नहीं रहना चाहिए अर्थात् उनका पक्ष नहीं लेना चाहिए। बुद्धिमान होने की योग्यता के कारण मनुष्य को अपने को इन्द्रियात्मक जगत् से संबंधित न मानकर, बौद्धिक जगत्

से संबंधित मानना चाहिए। अपनी तर्कना या विशुद्ध बुद्धि की विशुद्ध क्रिया-शीलता के कारण वह इन्द्रियात्मक जगत् का सदस्य न हो, बौद्धिक जगत् का सदस्य है। इस रूप में उसे अपने को ऐसे नियमों के अधीन समझना चाहिए जिन नियमों का स्रोत् केवल विशुद्ध सैद्धांतिक बुद्धि (Pure Reason) है।

मनुष्य में केवल बुद्धि ही नहीं है, अपितु उसके पास इन्द्रियाँ भी हैं। जहाँ तक मनुष्य अपने को इन इन्द्रियों के माध्यम से जानता है, तथा जहाँ तक वह अपना ज्ञान अन्तर्दर्शन द्वारा प्राप्त करता है, उस सीमा तक वह इन्द्रियात्मक जगत् का सदस्य है। इन्द्रियात्मक जगत् के सदस्य के रूप में वह प्रकृति के नियमों के अधीन है। इस तरह उपर्युक्त दो दृष्टिकोण हैं जिनके आधार पर किसी बौद्धिक प्राणी को स्वयं को समझना चाहिए। स्मरणीय है कि अभी तक कांट ने बुद्धि (Reason) शब्द का प्रयोग विशुद्ध सैद्धांतिक बुद्धि के लिए किया। अब वे आगे कहते हैं कि दो दृष्टिकोणों वाला उपर्युक्त सिद्धांत समान रूप से 'विशुद्ध व्यावहारिक बुद्धि" (Pure Practical Reason) पर भी लागू होता है। प्रथम दृष्टिकोण के अनुसार, ससीम बौद्धिक प्राणी बौद्धिक जगत् से सम्बन्धित है। बौद्धिक जगत् के सदस्य के रूप में जब मनुष्य अपने को समझता है, तब उसे यह भी समझना चाहिए कि उसका संकल्प समस्त इन्द्रियात्मक कारणों से पूर्णतः अप्रभावित व मुक्त है तथा यह संकल्प केवल उन नियमों का ही पालनकर्ता है जिनका स्रोत् उसकी बुद्धि है। इस तरह उसे अपने संकल्प को स्वतंत्र संकल्प के रूप में जानना चाहिये। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि मनुष्य अपने को बौद्धिक जगत् के सदस्य के रूप में जान ले, तो वह कभी भी अपने संकल्प के कर्मों को अन्य किसी विचार के अधीन नहीं मान सकता। वह उसे सदैव स्वतंत्रता के विचार के अधीन मानेगा। इस तरह एक बौद्धिक प्राणी के रूप में मनुष्य को केवल स्वतंत्रता की पूर्वमान्यता के आधार पर ही कर्म करना चाहिए। दूसरी ओर, जहाँ तक मनुष्य इन्द्रियात्मक जगत् का सदस्य है, उस सीमा तक उसके कर्म प्रकृति के नियमों अथवा अनुभवात्मक तथ्यों के अधीन हैं अर्थात् पारतंत्र्य के सिद्धांत के अन्तर्गत हैं। पर चूँकि मनुष्य मूलतः[1] बौद्धिक प्राणी है अतः उसे अपने को

१. मनुष्य तथा अन्य समस्त प्राणियों में यही मूलभूत भेद है कि मानव को छोड़ अन्य किसी भी प्राणी में बुद्धितत्व नहीं पाया जाता। इन्द्रियाँ मनुष्य तथा अन्य प्राणियों में सामान्य तत्व हैं। बुद्धि की विशेषता के कारण ही मनुष्य अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ है। अतः कांट ने मनुष्य को बौद्धिक प्राणी के रूप में ही परिभाषित किया है।

बौद्धिक जगत् के सदस्य के रूप में देखना चाहिये और अपने संकल्प के स्वातंत्र्य को जानना चाहिए तथा अपने कर्मों को स्वतंत्रता के विचार के अधीन रखना चाहिए। हम पहिले ही देख चुके हैं कि स्वतंत्रता के विचार के साथ स्वातंत्र्य का प्रत्यय अपृथक् रूप से संलग्न है तथा स्वातंत्र्य के प्रत्यय के साथ नैतिकता का सर्वोच्च सिद्धांत या निरपेक्ष आदेश जुड़ा है।

इस तरह दो दृष्टिकोणों का भेद दर्शाकर कांट उस चक्रक दोष के संदेह का निराकरण करते हैं जो प्रथम दृष्टि में उनके स्वातंत्र्य के सिद्धांत को देखकर पाठकों के मन में उत्पन्न होता है। कांट कहते हैं कि जब बौद्धिक कर्ता अपने को केवल बौद्धिक जगत् का सदस्य मानता है तथा स्वतंत्र मानता है, तो उसे स्वातंत्र्य के सिद्धांत को स्वीकार करना होगा। और जब वह अपने को एक ही साथ बौद्धिक जगत् तथा इन्द्रियात्मक जगत् दोनों का सदस्य सोचता है, तो उसे स्वातंत्र्य के सिद्धांत को "निरपेक्ष आदेश" के रूप में स्वीकार करना होगा। इस तरह एक दृष्टिकोण से मनुष्य को 'स्वतन्त्र' कहा जाता है व दूसरे दृष्टिकोण से उसके संदर्भ में "निरपेक्ष आदेश" की चर्चा की जाती है। स्मरणीय है कि नैतिकता सम्बन्धी कांट की चर्चा में चक्रक दोष का संदेह हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है मानों कांट पहिले नैतिक नियम से स्वातंत्र्य का अनुमान लगाते हैं, फिर स्वातंत्र्य से नैतिक नियम का। ऐसा लगता है कि कांट ने नैतिक नियम को समझाने के लिए पहिले ही स्वतंत्रता के विचार को स्वीकार कर लिया है और बाद में नैतिक नियम के आधार पर स्वतंत्रता के प्रत्यय की सत्ता सिद्ध करते हैं अर्थात् वे 'स्वतंत्रता' व 'नैतिक नियम' की सत्ता एक दूसरे से सिद्ध करते हैं। अतः यह आलोचना की जाती है कि कांट नैतिक नियम के लिये कोई सुदृढ़ आधार प्रदान नहीं कर सके हैं। वे जिसे नैतिक नियम का आधार मानते हैं, उसकी सत्ता नैतिक नियम द्वारा ही सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। ऐसा लगता है कि कांट नैतिक नियम की सत्ता बिना किसी तर्क के पहिले ही स्वीकार कर चुके हैं और स्वतंत्रता के सिद्धांत की दुहाई देकर वे केवल सदात्माओं का समर्थन प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। वे [illegible] योग्य तर्कवाक्य के रूप में कहीं भी प्रस्तुत नहीं कर सके हैं।

कांट के मतानुसार उपर्युक्त सभी आलोचनाओं का निराकरण वे दो दृष्टिकोण वाले अपने सिद्धांत से कर देते हैं। वे कहते हैं कि जब हम अपने को स्वतंत्र [illegible] के रूप में सोचते हैं, तो हम अपने को एक सदस्य के रूप में बौद्धिक जगत् में स्थानांतरित कर लेते हैं और उस समय हम संकल्प-स्वातंत्र्य

तथा इसके परिणाम—नैतिकता, को सत्य स्वीकार करते हैं। और जब हम अपने को 'कर्तव्यता' (obligation) व नैतिक 'बाध्यता' के अधीन सोचते हैं तब अपने को एक ही समय में इन्द्रियात्मक जगत् तथा बौद्धिक जगत् दोनों के ही सदस्य के रूप में देखते हैं। यदि हम 'केवल' बौद्धिक जगत् के सदस्य होते, तो नैतिक बाध्यता का प्रश्न ही नहीं उठता; पर तथ्य यह है कि हम इन्द्रियात्मक जगत् के भी सदस्य हैं और जब इन्द्रियां बुद्धि के विरुद्ध जाती हैं तब इन्द्रियों का शमन कर बुद्धि के सिद्धान्तों—नैतिक नियम—का पालन करना हमें 'बाध्यता' लगता है। इसी प्रकार यदि मनुष्य केवल इन्द्रियात्मक जगत् का सदस्य होता तब भी नैतिक बाध्यता या कर्तव्यता की समस्या न उठती, क्योंकि तब वह पशुओं से किसी भी अर्थ में भिन्न न होता। वैसी स्थिति में, नैतिकता का ही प्रश्न नहीं उठता।

कांट की आलोचना करते हुए कुछ विद्वान् यह कहते हैं कि कांट ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि वे बौद्धिक जगत् की सदस्यता में स्वतंत्रता का अनुमान लगाते हैं अथवा स्वतंत्रता से बौद्धिक जगत् की सदस्यता का। उपर्युक्त आलोचना सम्यक् नहीं है, क्योंकि स्वतंत्र होने के कारण मनुष्य बौद्धिक नहीं है वरन् बौद्धिक होने के कारण ही वह स्वतंत्र है अतः बौद्धिकता से स्वतंत्रता का अनुमान लगाया जा सकता है। सच कहा जाये तो यहाँ अनुमान का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि यहाँ स्वतंत्रता व बौद्धिक जगत् अनुमान की प्रक्रिया के दो अंग नहीं हैं। वे एक दूसरे के 'हेतु' नहीं हैं। 'स्वतंत्रता' बौद्धिक प्राणी की मूलभूत विशेषता है जो बुद्धितत्व के कारण उसे प्राप्त है। वस्तुतः बौद्धिक प्राणी में "स्वतंत्रता" व "बौद्धिकता" अपृथक-सिद्ध है। दो पृथक्-पृथक् दृष्टिकोण अपनाए जाएं, तब भी पेटन की उपर्युक्त आलोचना का निराकरण स्वतः ही हो जाता है। प्रथम या सत्तात्मक दृष्टिकोण से, पहिले बुद्धि की सत्ता और बुद्धि के कारण ही हम स्वतंत्र हैं। दूसरे अर्थात् ज्ञानात्मक दृष्टिकोण से, पहले हमें अपने 'बुद्धिमान' होने का ज्ञान होता है। फिर, उसके ही आधार पर अपनी स्वतंत्रता का ज्ञान होता है।

मेरी दृष्टि में, कांट पर लगाये गये चक्रक दोष का निराकरण एक और विधि से किया जा सकता है। वह विधि है सत्तात्मक तथा ज्ञानात्मक, इन दो पृथक्-पृथक् दृष्टिकोणों से नैतिक नियम व स्वातंत्र्य के प्रत्यय के संबंध में चिंतन करना। सत्तात्मक दृष्टि से स्वातंत्र्य की सत्ता पहिले है और नैतिक नियम की सत्ता बाद में, किन्तु ज्ञानात्मक दृष्टि से हमें नैतिक नियमों का ज्ञान पहिले होता है तत्पश्चात् स्वातंत्र्य का ज्ञान होता है।

कांट ने विशुद्ध सैद्धांतिक बुद्धि तथा विशुद्ध व्यावहारिक बुद्धि में जो भेद किया है वह अत्यधिक महत्वपूर्ण है। विशुद्ध सैद्धान्तिक बुद्धि निरपेक्ष विचारों, नियमों व निरुपाधिक प्रत्ययों की जननी है, जबकि विशुद्ध व्यावहारिक बुद्धि निरपेक्ष नियम के विचार को कर्म में टालती है या जीवन के क्षेत्र में उतारती है।

निरपेक्ष आदेश कैसे सम्भव है ?

बुद्धिवान् के रूप में प्रत्येक बौद्धिक प्राणी अपने को बौद्धिक जगत् से सम्बद्ध मानता है तथा पूर्णतः निमित्त कारण के रूप में अपने को बौद्धिक जगत् से संबंधित कर, अपनी इस कारणता को वह 'संकल्प' नाम देता है। दूसरी ओर, उसे इस बात का भी बोध रहता है कि वह इन्द्रियात्मक जगत् का भी एक अंश है। इस इन्द्रियात्मक जगत् में किये जाने वाले उसके कर्म संकल्प के आभास मात्र हैं। इन्द्रियात्मक जगत के सदस्य के रूप में ससीम बौद्धिक प्राणी जो कर्म करता है, उन्हें हम संकल्प की कारणता के द्वारा नहीं समझा सकते हैं, क्योंकि हमें इसका प्रत्यक्ष ज्ञान (acquaintance) नहीं होता। इन कर्मों को संकल्प की कारणता के द्वारा समझाने की अपेक्षा इन्हें अन्य आभासों—जैसे इच्छा, प्रवृत्ति, अनुभूति आदि—के प्रभावों के आधार पर समझना होगा। इस तरह एक ससीम बौद्धिक कर्ता के रूप में मनुष्य को स्वयं को दो दृष्टिकोणों से समझना चाहिए। बौद्धिक जगत् के सदस्य के रूप में तथा इन्द्रियात्मक जगत् के सदस्य के रूप में। यदि हम पूर्णतः बौद्धिक हों. तो हमारे समस्त कर्म विशुद्ध संकल्प के स्वातंत्र्य के सिद्धांत के पूर्ण अनुरूप होंगे और यदि हम पूर्णतः इन्द्रियात्मक हों, तो हमारे समस्त कर्म प्राकृतिक अनिवार्यता लिए हुए होंगे। प्रकृति का नियम इच्छाओं तथा प्रवृत्तियों पर शासन करता है। इस प्रकार इन्द्रियात्मक जगत् के सदस्य के रूप में हमारे कर्म प्रकृति-पारतंत्र्य के नियम के अनुरूप होंगे। पहली स्थिति में हमारे, कर्म नैतिकता के सर्वोच्च सिद्धांत पर आधारित होंगे व दूसरी स्थिति में कर्म सुख के सिद्धांत पर आश्रित होंगे। किन्तु कांट यह मानते हैं कि यह बौद्धिक जगत् अपने में इन्द्रियात्मक जगत् का आधार निहित रखता है अतः इन्द्रियात्मक जगत् के नियम भी अपने में निहित रखता है। इस आधार वाक्य से कांट यह अनुमान लगाते प्रतीत होते हैं कि बौद्धिक जगत् के सदस्य होने के कारण हमारे संकल्प पर जिस नियम का अधिकार रहता है, इन्द्रियात्मक जगत् का सदस्य होने के बावजूद हमारा संकल्प उसी नियम के द्वारा शासित होना चाहिए। विशुद्ध बुद्धि हमारे संकल्प को तत्क्षण, सहज रूप से नियम प्रदान करती है अर्थात् यह अनुभवात्मक प्रेरकों

से पूर्ण मुक्त रहकर संकल्प को नियम प्रदान करती है। कांट कहते हैं कि इस विशुद्ध बुद्धि को इन्द्रियात्मक जगत् के कर्मों तथा नियमों के आधार के रूप में भी समझा जाना चाहिए। एक दृष्टिकोण से इन्द्रियात्मक जगत् का सदस्य होने के बावजूद, मूलत: बुद्धिमान होने के कारण हम अंतत: बौद्धिक जगत् के नियम के अधीन हैं, क्योंकि स्वरूपत: हम बौद्धिक प्राणी हैं। हम उस विशुद्ध बुद्धि के नियंत्रण में रहते हैं जो नैतिक नियम को स्वतंत्रता के विचार में, और इस तरह संकल्प-स्वातंत्र्य में निहित रखती है। यही कारण है कि हमें बौद्धिक जगत् के नियमों को "आदेशों" के रूप में देखना चाहिए तथा संकल्प-स्वातंत्र्य के सिद्धांत पर आधारित कर्म को 'कर्तव्य' (Duty) के रूप में समझना चाहिए।

कांट के विचारानुसार, चूँकि स्वतंत्रता का विचार हमें बौद्धिक जगत् का एक सदस्य निरूपित करता है अत: निरपेक्ष आदेश संभव होते हैं। यदि ऐसा है और यदि हम पूर्ण रूप से बौद्धिक जगत् के सदस्य हैं, तो हमारे समस्त नियम निश्चित रूप से संकल्प के स्वातंत्र्य के अनुरूप "होंगे"। पर चूँकि हम उसी समय अपने को इन्द्रियात्मक जगत के सदस्य के रूप में भी जानते हैं, अत: हमारे कर्मों को संकल्प-स्वातंत्र्य के सिद्धांतानुसार होना "चाहिए"। यह जो निरपेक्ष "चाहिए" शब्द है, वह हमें एक संश्लेषणात्मक प्राक्‌आनुविक तर्कवाक्य प्रदान करता है। कांट के मतानुसार, "मुझे करना चाहिए" एक संश्लेषणात्मक प्राक्-आनुभविक तर्कवाक्य है। 'चाहिए' तथा अपूर्ण बौद्धिक कर्ता के 'संकल्प' को जोड़ने वाला तृतीय पद इसी संकल्प का "विशुद्ध संकल्प के रूप में विचार" है। जहाँ तक विशुद्ध बुद्धि का संबंध है, विशुद्ध संकल्प ही इन्द्रियात्मक इच्छाओं से प्रभावित संकल्प के लिए सर्वोच्च शर्त या उपाधि है। विशुद्ध अथवा स्वतंत्र संकल्प का कार्य इन्द्रियाश्रित बुद्धि (Understanding) के विकल्पों (Categories) के कार्य से काफी कुछ सादृश्य रखता है। प्रकृति संबंधी हमारे ज्ञान के लिए संश्लेषणात्मक प्राक्-आनु भविक् तर्कवाक्य अनिवार्य होते हैं। इन तर्कवाक्यों में हमारी इन्द्रियाश्रित बुद्धि के विकल्पों का हाथ रहता है। इन तर्कवाक्यों का निर्माण बुद्धि विकल्प करते हैं। ये बुद्धि-विकल्प अपने आप कुछ भी सूचित नहीं करते। ये केवल नियम के आकारमात्र होते हैं। इसी प्रकार निरपेक्ष आदेश जो कि संश्लेषणात्मक तर्कवाक्य होता है—का निर्माण विशुद्ध संकल्प के कारण संभव है।

कांट यह मानते हैं कि सामान्य मानवीय बुद्धि के व्यावहारिक उपयोग से उपर्युक्त निगमन का औचित्य सिद्ध होता है। प्रत्येक व्यक्ति में सामान्य

नैतिक चेतना पाई जाती है। यहाँ तक कि एक बुरे व्यक्ति में भी नैतिक चेतना होती है। उदाहरणार्थ, हत्या करते समय हत्यारा भी जानता है कि वह गलत कर रहा है। यह सामान्य नैतिक चेतना इस बात का प्रमाण है कि हममें अर्थात् समस्त बौद्धिक प्राणियों में—चाहे कोई बौद्धिक प्राणी बुरा भी हो—नैतिकता का कोई एक सार्वभौमिक तथा सर्वोच्च आधार अवश्य है। यह आधार हमारा विशुद्ध संकल्प अथवा विशुद्ध व्यावहारिक बुद्धि है। कांट कहते हैं कि कोई भी मनुष्य यहाँ तक कि कठोर दुष्ट व्यक्ति भी, यदि वह अन्य किसी भी तरह से बुद्धि का प्रयोग करने का अभ्यस्त हो, उद्देश्यनिष्ठता, शुभ सिद्धांतों के प्रति आदर, सबके प्रति सहानुभूति तथा सच्ची करुणा के उदाहरणों के आगे नतमस्तक हो जाता है। अपनी इच्छाओं, सवेगों, आवेगों या प्रवृत्तियों के कारण वह स्वयं एक सत्यनिष्ठ, ईमानदार या सबसे सहानुभूति रखने वाला मनुष्य नहीं बन पाता; किन्तु तब भी वह अपनी प्रवृत्तियों आदि से मुक्त होने की कामना करता है। अपनी प्रवृत्तियाँ, अपना घृणित जीवन कई बार उसे स्वयं ही बोझ लगने लगता है। उदाहरणार्थः—प्रतिशोधवश एक व्यक्ति डाकू बन जाता है। अपने एकांत क्षणों में वह अनेक बार अपने को हत्याओं आदि के लिए धिक्कारता है। वह भी डाकू जीवन छोड़ पुनः एक अच्छे नागरिक का जीवन जीना चाहता है। मनुष्य की इस प्रकार की इच्छा अथवा कामना यह दर्शाती है कि इन्द्रियात्मक प्रभावों से स्वतंत्र एक संकल्प व्यक्ति के पास है, जिसके कारण वह विचारों में, अपने को इन्द्रियात्मक क्षेत्र से बौद्धिक क्षेत्र में स्थानांतरित किया करता है। यह स्पष्ट है कि अपनी उपर्युक्त कामनाकी पूर्ति से मनुष्य अपनी इन्द्रियात्मक अभिलाषाओं की तृप्ति की आशा नहीं कर सकता। परिणामतः मनुष्य किसी भी ऐसी स्थिति की आशा नहीं कर सकता जो उसकी वास्तविक अथवा संभाव्य प्रवृत्तियों में से किसी को भी संतुष्ट करेगी। यदि ऐसी आशा मनुष्य करने लगे तो इससे उस विचार या निरुपाधिक प्रत्यय की श्रेष्ठता को क्षति पहुँचेगी जो उपर्युक्त कामना को जन्म देता है। जिस चीज की मनुष्य आशा कर सकता है वह उसके अपने व्यक्तित्व के रूप में और अधिक आंतरिक मूल्य की प्राप्ति है। जब मनुष्य अपने को बौद्धिक जगत् के सदस्य के रूप में रूपान्तरित करता है, तभी अपने को एक अच्छा मनुष्य मानता है। कांट के मतानुसार स्वतंत्रता के 'निरुपाधिक' प्रत्यय के कारण ही मनुष्य अनिच्छा होते हुए भी इन्द्रियात्मक जगत् के प्रभावों से अपने आपको मुक्त सोचने तथा तद्नुसार कर्म करने के लिए विवश होता है।

इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य इस तथ्य के प्रति सचेत है कि उसके पास एक शुभ संकल्प है जो अशुभ संकल्प के लि[illegible] [illegible] करता है। यह अशुभ संकल्प इन्द्रियात्मक जगत् क[illegible] मनुष्य में पाया जाता है। उल्लंघन करते हुये भी मनुष्य शुभ स[illegible] के [illegible] की श्रेष्ठता के प्रति पूर्णचेतन रहता है। उदाहरणार्थ चोर चोरी करते समय भी यह जानता है कि चोरी करना अनैतिक है, अनुचित है। यदि वह ऐसा न जानता होता तो लुक-छुपकर अवसर देख[illegible] कहे जाने पर उसे दुःख व लज्जा होती। इस [illegible] व्यक्ति के लिये, जो पूर्णतः बौद्धिक जगत् [illegible] चाहिए" वस्तुतः 'मैं इच्छा करता हूँ' ही है। मनुष्य का नैतिक [illegible] 'मु[illegible] करना चाहिए" या कर्तव्य या बाध्यता के रूप में इसलिए प्रतीत होते हैं क्योंकि वह अपने को उसी समय इन्द्रियात्मक जगत् का भी सदस्य मान[illegible] चलता है।

व्यावहारिक दर्शन की अन्तिम सीमा

(स्वतंत्रता तथा बाध्यता (Necessity) में द्वन्द्व)

कांट का उपर्युक्त तर्क स्वतंत्रता तथा बाध्यता (अनिवार्यता) के पारस्परिक संबंध की समस्या को जन्म देता है। यह समस्या कांट के शब्दों में एक द्वन्द्व (Antinomy) को उत्पन्न करती है।[1] यह द्वन्द्व तब उपस्थित होता है जब हमारा सामना दो ऐसे परस्पर विरोधी तर्कवाक्यों से होता है जिनमें से प्रत्येक एक अखण्डनीय तर्क का अनिवार्य निष्कर्ष प्रतीत होता है।

कांट मानते हैं कि समस्त मनुष्य यह सोचते हैं कि उनके पास स्वतंत्र संकल्प है। इस प्रकार के चिंतन से ही समस्त नैतिक निर्णयों का उदय होता है। इन नैतिक नियमों के द्वारा हम यह कहते हैं कि शुभ कर्म किये तो अवश्य जाना 'चाहिए' किन्तु वे प्रायः किये नहीं जाते हैं। स्वतंत्रता का प्रत्यय न तो इन्द्रियानुभव से उत्पन्न है, और न ही यह इन्द्रियानुभवात्मक है; क्योंकि चाहे इन्द्रियानुभव इसके विपरीत जा रहा हो, यह सत्या ही रहता है। इन्द्रियानुभव अनेक बार उन आकांक्षाओं के विपरीत जाता है जो आकांक्षायें

---

१. टी० के एबॉट, कांट्स क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीज़न एण्ड अदर वर्क्स ऑन द थ्योरी ऑफ एफिक्स० पृ० Iv.

स्वतंत्रता की पूर्वमान्यता के अन्तर्गत वस्तुगत दृष्टि से अनिवार्य मानी जाती है। दूसरी ओर, यह भी अनिवार्य है कि कुछ भी घटित हो वह असंदिग्ध रूप से प्रकृति के नियम के अनुसार ही होना चाहिए। प्रकृति की यह 'अनिवार्यता' भी अनुभवात्मक प्रत्यय नहीं है, क्योंकि अनिवार्यता का प्रत्यय प्राक्-आनुभविक है। तथापि प्रकृति का प्रत्यय इन्द्रियानुभव द्वारा सुदृढ़ किया जाता है। यह भी सत्य है कि यदि सार्वभौमिक नियमों के अनुरूप इन्द्रियात्मक वस्तुओं का संगत ज्ञान संभव है, तो हमें अनिवार्य रूप से प्रकृति के प्रत्यय को पहले ही स्वीकार करना होगा। इस तरह कांट की दृष्टि में स्वतंत्रता बुद्धि का एक विचार मात्र है जिसकी वस्तुगत सत्ता (reality) अपने आप में विवादास्पद है। इसके विपरीत, प्रकृति इन्द्रियाश्रित बुद्धि का एक प्रत्यय है तथा प्रकृति के प्रत्यय की वस्तुगत सत्ता अनुभव से प्राप्त उदाहरणों से सिद्ध की जाती है तथा अनिवार्यतः अनुभव द्वारा ही सिद्ध की जाना चाहिए। इस तरह एक ओर है स्वतंत्रता का प्रत्यय, जिसके अभाव में कोई भी नैतिक निर्णय संभव नहीं है। दूसरी ओर है—प्राकृतिक अनिवार्यता अथवा कारणता का प्रत्यय, जिसके बिना प्रकृति का ज्ञान संभव नहीं है। ये दोनों प्रत्यय एक दूसरे के विरोधी दिखाई देते हैं। पहले प्रत्यय के अनुसार हमारे कर्म सदैव 'स्वतंत्र' होना चाहिए, जबकि दूसरे प्रत्यय के अनुसार हमारे कर्म घटनाओं के रूप में कार्य-कारण के नियम के द्वारा संचालित होना चाहिए। इन प्रत्ययों का यही परस्पर विरोध 'द्वन्द्व' को जन्म देता है। कांट कहते हैं संकल्पनात्मक चिंतन के उद्देश्यों की पूर्ति की दृष्टि से बुद्धि प्राकृतिक अनिवार्यता के प्रत्यय को अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण व उपयोगी मानती है, तथापि कर्म के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए स्वतंत्रता का एकमात्र मार्ग ही शेष बचता है। स्वतंत्रता के कारण ही हम अपने आचरण में बुद्धि का उपयोग कर सकते हैं। जिस प्रकार साधारण मानव-बुद्धि के लिए स्वतंत्रता के प्रत्यय को छोड़ना असंभव है, उसी प्रकार सर्वाधिक गूढ़ नीतिदर्शन के लिए भी स्वतंत्रता के निरुपाधिक प्रत्यय का परित्याग करना असंभव है। अतः बुद्धि को यह जानना चाहिए कि किसी एक ही मानव-कर्म से सम्बन्धित "स्वतंत्रता" तथा "प्राकृतिक अनिवार्यता" में यथार्थतः कोई पारस्परिक विरोध नहीं पाया जाता। बुद्धि न तो प्रकृति के प्रत्यय को छोड़ सकती है और न स्वतंत्रता के प्रत्यय को।

कांट मानते हैं कि यद्यपि हम कभी भी यह जानने में समर्थ नहीं होंगे कि स्वतंत्रता कैसे संभव है, तथापि प्रतीत होने वाले विरोध का निराकरण

एक विश्वसनीय तरीके से किया जाना चाहिए। यदि स्वतंत्रता का विचार आत्म-विरोधी है अथवा यह प्रकृति के प्रत्यय—जो कि स्वतंत्रता के प्रत्यय के समान ही महत्वपूर्ण है—के विरुद्ध है, तो प्राकृतिक अनिवार्यता के लिए हमें स्वतंत्रता को पूर्णतः छोड़ना होगा। प्राकृतिक अनिवार्यता के प्रत्यय में कम-से-कम यह विशेषता पाई जाती है कि उसे अनुभव द्वारा सिद्ध किया जा सकता है।

दो दृष्टिकोण

यदि हम किसी कर्म के संदर्भ में अपने को स्वतंत्र सोचते हैं और उसी कर्म के संदर्भ में, उसी अर्थ तथा उसी संबंध के कारण अपने को प्रकृति के नियम के अधीन भी सोचते हैं, तो स्वतंत्रता तथा प्राकृतिक अनिवार्यता के मध्य पाये जाने वाले विरोध का निराकरण संभव नहीं है। कांट की दृष्टि में, संकल्पनात्मक दर्शन (Speculative Philosophy) का एक अत्यधिक महत्व-पूर्ण काम कम-से-कम यह दिखाना है कि द्वन्द्व के संबंध में जो भ्रम है, वह इसलिए उत्पन्न होता है कि जब हम मनुष्य को स्वतंत्र कहते हैं तब एक विशिष्ट अर्थ व संबंध में उसे स्वतंत्र समझते हैं; और जब हम मनुष्य को प्रकृति के नियम के अधीन सोचते हैं या प्रकृति के अंश के रूप में समझते हैं, तो दूसरे अर्थ व प्रसंग में उसे ऐसा समझते हैं। इस तरह दो भिन्न-भिन्न अर्थों व प्रसंगों को अपनाने के कारण ही भ्रांति उत्पन्न होती है। संकल्प-नात्मक दर्शन को यह स्पष्ट करना चाहिए कि मानव की दोनों विशेषताएं—स्वतन्त्रता तथा प्राकृतिक अनिवार्यता—न केवल परस्पर सम्बद्ध की जा सकती हैं, वरन् उनकी सत्ता एक ही व्यक्ति में स्वीकार कर उन्हें अनिवार्य रूप से परस्पर सम्बद्ध मानना चाहिए। यदि हम ऐसा नहीं मानते, तो हम यह नहीं समझा सकते कि क्यों हमें अपनी बुद्धि को एक ऐसे विचार से परेशान करना चाहिए, जो विचार हमें एक ऐसे उद्योग में उलझा देता है, जिसमें हमारी बुद्धि अपने सैद्धान्तिक प्रयोग के समय क्लेशप्रद संकट की अवस्था में फंस जाती है। कांट सुझाव देते हुए कहते हैं कि यदि व्यावहारिक दर्शनशास्त्र अथवा नीतिदर्शन को बाह्य घातक आक्रमणों से मुक्त रखना है तो संकल्प-नात्मक दर्शन द्वारा उपर्युक्त काम किया जाना अत्यधिक आवश्यक है। यदि दार्शनिक इस समस्या को पूर्णतः अछूता छोड़ दें, तो इसका लाभ नियतिवादी (fatalist) उठायेंगे और संकल्प-स्वातंत्र्य की अवहेलना कर, मानव की गरिमा को समाप्त कर देंगे। वह इस तरह, कि यदि 'स्वतंत्रता' नामक

विशेषता को मानव से निकाल दिया जाये तो नैतिकता नाम की कोई चीज़ ही शेष नहीं रह जाती। और चूँकि मानव की गरिमा उसके नैतिक होने में है अतः नैतिकता के लोप के साथ मानवीय गरिमा का भी स्वतः ही लोप हो जाएगा।

द्वन्द्व की समस्या का समाधान व्यावहारिक दर्शन अथवा व्यावहारिक बुद्धि नहीं कर सकती है। वस्तुतः जब भी हमारी बुद्धि सैद्धांतिक प्रश्नों का उत्तर देने की चेष्टा करती है तो वह द्वन्द्वों में फंस जाती है तथा अनेक प्रकार की आलोचनाओं का शिकार होती है। तब इसे इन द्वन्द्वों व आलोचनाओं से मुक्त होने के लिए सैद्धांतिक बुद्धि की सहायता की आवश्यकता पड़ती है।

मनुष्य को दो भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से समझा जाना चाहिए। उसे बौद्धिक जगत् के सदस्य के रूप में तथा इन्द्रियात्मक जगत् के एक अंग के रूप में समझा जाना चाहिए। यदि एक बार हम उसकी इन दो जगत् की सदस्यता को समझ जाते हैं तो प्रतीत होने वाला विरोध या द्वन्द्व स्वतः ही समाप्त हो जाता है।

साधारण से साधारण मानव-बुद्धि भी संकल्प की स्वतंत्रता की वैधानिकता को स्वीकार करती है। साधारण मानव-बुद्धि का यह दावा कि "संकल्प स्वतंत्र है", इस चेतना व इस सर्वस्वीकृत पूर्वमान्यता पर आधारित है कि हमारी बुद्धि विशुद्ध इन्द्रियात्मक प्रभावों से पूर्णतः मुक्त रहती है।

वस्तुतः मनुष्य एक ही समय में दो जगतों का सदस्य रहता है। बौद्धिक जगत् के अंग के रूप में वह स्वतंत्र है तथा इन्द्रियात्मक जगत् के अंग के रूप में मानव परतंत्र या शासित है। कांट कहते हैं कि "आभास" के रूप में एक वस्तु कुछ ऐसे नियमों के अधीन रहती है जिन नियमों से वह "अपने आप में वस्तु" (thing-in-itself=न्यूमिनन्) के रूप में मुक्त रहती है। कहने का अर्थ यह है कि 'आभास' के रूप में वस्तु जिन नियमों का पालन करने के लिए बाध्य है, "अपने आप में वस्तु" के रूप में वह उन नियमों का पालन करने के लिए विवश नहीं है। इसके विपरीत, इस द्वितीय रूप में वह उन नियमों से पूर्ण मुक्त रहती है। इसी तरह मानव के विषय में सोचना चाहिए। व्यक्ति को अपने आपको इन्हीं दो दृष्टियों से देखना चाहिए अर्थात् उसे अपने को "आभास" तथा "अपने आप में बौद्धिक प्राणी" के रूप में देखना चाहिए। एक दृष्टि से उसे अपने आपको इन्द्रियों के माध्यम से प्रभावित होने वाले

विषय के रूप में सोचना तथा समझना चाहिए तथा दूसरी दृष्टि से उसे अपने आपको इन्द्रियात्मक प्रभावों से पूर्ण मुक्त तथा बुद्धिवान् के रूप में सोचना तथा समझना चाहिए। यह स्वीकार करने में कोई आत्म-विरोध उपस्थित नहीं होता कि आभास के रूप में अर्थात् इन्द्रियात्मक जगत् के सदस्य के रूप में मनुष्य प्रकृति के नियमों के अधीन है; किन्तु अपने आप में बौद्धिक प्राणी अथवा बौद्धिक जगत् के सदस्य के रूप में वह इन प्रकृति के नियमों के अधीन न होकर स्वतंत्रता के नियम के अधीन रहता है। इस तरह मनुष्य अपने को अपनी इच्छाओं व प्रवृत्तियों के लिए उत्तरदायी नहीं समझता; किन्तु वह अपने को नैतिक कर्मों के प्रति उत्तरदायी मानता है। ये नैतिक कर्म नैतिक नियम पर आधारित होते हैं जो इच्छाओं, तृष्णाओं भौतिक सुख आदि की अवहेलना व तिरस्कार करता है। मनुष्य की संरचना में एक महत्वपूर्ण अंग है उसकी बुद्धि। यही विशुद्ध बुद्धि नैतिक कर्मों की कारणता या कारण है। इसी बुद्धि के कारण मनुष्य बौद्धिक जगत् के सिद्धांतों के अधीन है, किन्तु इस बौद्धिक जगत् के विषय में केवल इतना ही ज्ञात है कि विशुद्धबुद्धि में ही नैतिक नियम का स्रोत् है तथा बुद्धियुक्त होने के कारण ही नैतिक नियम निरपेक्ष रूप से एवं सहज रूप से मनुष्य पर लागू होते हैं। मनुष्य यह भी जानता है कि "मानव प्राणी" के रूप में यह केवल आभासमात्र है; "बुद्धिमान" प्राणी होना ही उसका सच्चा स्वरूप है। कांट कहते हैं कि इच्छाओं तथा प्रवृत्तियों से या प्रकृति के संपूर्ण इन्द्रियात्मक जगत् से जो प्रेरणा मिलती है वह बुद्धिमान प्राणी के संकल्प को निर्धारित करने वाले नियमों की महत्ता कम नहीं कर सकती।

कांट की उपर्युक्त चर्चा से ऐसा प्रतीत होता है मानों हम यह जानते हों कि बौद्धिक जगत् पर बुद्धि शासन करती है। अतः अपने इस असुरक्षित—जिसे तर्क द्वारा प्रमाणित नहीं किया गया है—कथन को कांट आगे स्पष्ट करने की चेष्टा करते हैं।

बौद्धिक जगत् का कोई भी ज्ञान संभव नहीं है।

कांट यह मानते हैं कि मनुष्य बौद्धिक जगत् का कुछ भी ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। बौद्धिक जगत् के विषय में जो कुछ भी हम समझते हैं, तथा जो भी चिंतन इसके विषय में व्यावहारिक बुद्धि करती है, उसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि अपने को बौद्धिक जगत् में प्रविष्ट समझ कर व्यावहारिक बुद्धि अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करती है। यदि व्यावहारिक

बुद्धि यह दावा करती कि वह बौद्धिक जगत् को जानती है और इसलिये उसे बौद्धिक जगत् में अपनी सत्ता का इन्द्रियानुभव (sense-intuition) होता है, तो ऐसा दावा कर वह अवश्य अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करती। यहाँ कांट ऐसा इसलिए कहते हैं क्योंकि उनके दर्शन के अनुसार समस्त मानवीय ज्ञान इन्द्रियानुभव तथा प्रत्यय दोनों से मिलकर निर्मित होता है। कांट कहते हैं कि इन्द्रियात्मक जगत् के सन्दर्भ में बौद्धिक जगत् की हमारी धारणा एक निषेधात्मक धारणा है। कहने का तात्पर्य यह है कि बौद्धिक जगत् की धारणा एक ऐसे जगत् की धारणा है जिसे हम इन्द्रियों के माध्यम नहीं जानते। तथापि यह धारणा नीतिशास्त्र के क्षेत्र में अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इसके ही कारण हम संकल्प को निषेधात्मक तथा विधानात्मक, दोनों दृष्टियों से "स्वतन्त्र संकल्प" के रूप में समझने में समर्थ होते हैं। बौद्धिक जगत् की इस धारणा के कारण हम संकल्प को निषेधात्मक रूप से स्वतंत्र सोचते हैं अर्थात् हम यह समझते हैं कि हमारा संकल्प समस्त इन्द्रियात्मक कारणों से पूर्णतः मुक्त अथवा स्वतंत्र है। साथ ही हम संकल्प को विधानात्मक (Positive) दृष्टि से भी स्वतंत्र समझ सकते हैं अर्थात् हम यह जान पाते हैं कि यह अपने ही स्वातंत्र्य के सिद्धांतानुसार कर्म करने के लिए स्वतंत्र है। बौद्धिक जगत् के प्रत्यय के अभाव में यदि हम संकल्प के विषय में चिंतन करें, तो हमें उसको पूर्णतः इन्द्रियात्मक कारणों द्वारा संचालित व प्रभावित मानना होगा। परिणाम-स्वरूप बौद्धिक जगत् का प्रत्यय या दृष्टिकोण इसलिए अनिवार्य है कि हम संकल्प को बौद्धिक होने के कारण ही स्वतंत्र मानते हैं।

कांट कहते हैं कि यदि 'व्यावहारिक बुद्धि' बौद्धिक जगत् के किसी प्रत्यय को लेकर उसे संकल्प का विषय बनाती है अथवा बौद्धिक जगत् की किसी चीज को कर्म का प्रेरक निरूपित करती है, तो ऐसा करने में वह अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करती है तथा वह ऐसी वस्तु से परिचित होने का झूठा दिखावा करती है, जिसका उसे कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। इस तरह बौद्धिक जगत् का प्रत्यय केवल एक "दृष्टिकोण" है। स्मरणीय है कि जब कांट बौद्धिक जगत् के 'प्रत्यय' को एक दृष्टिकोण कहते हैं, तो उनका यह अर्थ कदापि नहीं रहता कि बौद्धिक जगत् स्वयं ही केवल एक दृष्टिकोण है। इस अर्थ में इन्द्रियात्मक जगत् के प्रत्यय का वर्णन भी एक दृष्टिकोण के अर्थ में किया जा सकता है।

हमारी बुद्धि बाह्यस्थित आभासों को स्वीकार करने के लिए अपने आपको

इसलिए विवश पाती है जिससे वह अपने को 'व्यावहारिक' रूप में देख सके। यदि इन्द्रियानुभूति के प्रभाव ही मनुष्य के कर्म को निर्धारित करने में समर्थ हों तो बुद्धि अपने को कभी भी व्यावहारिक बुद्धि के रूप में नहीं समझ सकेगी। दूसरी ओर, हम यह स्वीकार करते हैं कि मनुष्य को बुद्धिमान प्राणी के रूप में अपनी चेतना रहती है। परिणामस्वरूप मनुष्य को इस बात की भी चेतना रहती है कि वह स्वयं एक बौद्धिक कारण है जो बुद्धि के माध्यम से क्रियाशील है अर्थात् जो अपनी क्रियाओं में अथवा कर्मों को करने में पूर्ण स्वतन्त्र है। जब हम अपने आपको बौद्धिक जगत् में सोचते हैं तब हम यह भी जानते हैं कि इन्द्रियात्मक जगत् के अनुरूप प्रकृति की कार्य-प्रणाली से नितान्त भिन्न कार्य-प्रणाली बौद्धिक जगत् की है। बौद्धिक जगत् के सदस्य के रूप में मनुष्य यह जानता है कि बौद्धिक जगत् के नियम तथा व्यवस्था में और इन्द्रियात्मक जगत् के नियम तथा व्यवस्था में भेद है। यहाँ कांट यह स्पष्ट करते हैं कि बौद्धिक जगत् से उनका तात्पर्य 'अपने आप में पूर्णतः बौद्धिक प्राणियों" के रूप में बौद्धिक प्राणियों की समष्टि (Totality) से है। नैतिकता तथा नैतिक नियम को समझने के लिए बौद्धिक जगत् का प्रत्यय स्वीकार करना अनिवार्य है, किन्तु इस प्रत्यय के विषय में हम केवल "चिंतन" कर सकते हैं। हमें बौद्धिक जगत् का "ज्ञान" प्राप्त नहीं होता क्योंकि यह हमारी इन्द्रियों का विषय नहीं बन सकता। हम इस पर केवल स्वातंत्र्य के सिद्धांत अथवा नैतिकता की आकारिक उपाधि के ही संदर्भ में ही चिंतन करते हैं। आकारिक उपाधि (formal condition) के अनुसार संकल्प का केवल वही विषयीगत सिद्धांत स्वीकार किया जाना चाहिए, जिसमें एक नियम की सार्वभौमिकता पाई जाती हो। इसके विपरीत, जो नियम किसी वस्तु के संदर्भ द्वारा निर्मित किये जाते हैं, वे हमें पारतंत्र्य प्रदान करते हैं। यह पारतंत्र्य केवल प्रकृति के नियमों में ही पाया जा सकता है। यही कारण है कि प्रकृति के नियम केवल इन्द्रियात्मक जगत् में ही लागू हो सकते हैं।

स्वतंत्रता की कोई व्याख्या संभव नहीं है।

कांट कहते हैं कि यदि हमारी बुद्धि इस बात की व्याख्या करने का काम अपना माने कि कैसे विशुद्ध बुद्धि व्यावहारिक हो सकती है, तो वह अपनी समस्त सीमाओं का अतिक्रमण करेगी। विशुद्ध बुद्धि कैसे व्यावहारिक हो सकती है, इस बात की व्याख्या करना तथा स्वतन्त्रता कैसे संभव है, इस बात की व्याख्या करना एक ही चीज है। अतः स्वतंत्रता की सत्ता दर्शाना

भी बुद्धि द्वारा अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करना ही है। हम 'स्वतन्त्रता' को मानकर चलते हैं।

हम केवल इन्द्रियानुभव की वस्तुओं को ही समझा सकते हैं। इन वस्तुओं की व्याख्या करने का अर्थ इनको प्राकृतिक नियमों के अन्तर्गत—जैसे कार्य-कारण नियम के अन्तर्गत-दर्शाना है। स्वतंत्रता कोई इन्द्रियानुभवात्मक वस्तु नहीं है, यह केवल एक विचार या निरुपाधिक प्रत्यय है। इस निरुपाधिक प्रत्यय का कोई ऐसा उदाहरण या दृष्टान्त नहीं है जिसे अनुभव द्वारा जाना जा सके तथा जिसे कार्य-कारण नियम के अन्तर्गत रखा जा सके। कहने का तात्पर्य यह है कि स्वतंत्रता के निरुपाधिक प्रत्यय (idea) की वस्तुगत प्रामाणिकता प्रकृति के नियमों के आधार पर दर्शायी नहीं जा सकती है अतः किसी भी संभव इन्द्रियानुभव द्वारा इस निरुपाधिक प्रत्यय को प्रामाणिक सिद्ध नहीं किया जा सकता। हम कभी भी स्वतन्त्रता के निरुपाधिक प्रत्यय को पूर्णतः नहीं जान सकते, न ही उसके संबंध में हमें कोई अन्तर्दृष्टि (insight) ही प्राप्त हो सकती है क्योंकि इसके उदाहरण इन्द्रियात्मक जगत् में प्राप्त न होने के कारण सादृश्य के आधार पर इसका ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता।

वस्तुतः स्वतन्त्रता बुद्धि की एक अनिवार्य पूर्वमान्यता है, जो बौद्धिक प्राणियों में पाई जाती है। जो मनुष्य यह जानता है कि उसके पास संकल्प नामक शक्ति है तथा यह शक्ति इच्छा (appetition) से भिन्न है, वह निश्चित रूप से स्वतंत्रता के निरुपाधिक प्रत्यय को स्वीकार करता है। मनुष्य यह विश्वास करता है कि संकल्प एक ऐसी शक्ति है जो उसे बुद्धिमान प्राणी के रूप में कर्म करने के लिए प्रेरित करती है। परिणामस्वरूप वह प्राकृतिक मूलप्रवृत्तियों से स्वतन्त्र रहकर बुद्धि के नियमों के अनुरूप कर्म करने के लिए मनुष्य को प्रेरित करती है। किन्तु यह स्वयंसिद्ध सत्य है कि जहाँ तक प्रकृति के नियमों की सीमा है, वहीं तक हमारी व्याख्या करने की सामर्थ्य की सीमा है। यही कारण है कि जो कुछ भी प्रकृति के नियमों के परे है, मनुष्य उसकी व्याख्या नहीं कर सकता। अतः मनुष्य स्वतन्त्रता की व्याख्या नहीं कर सकता। हम किसी स्वतन्त्र कर्म की व्याख्या, उसका कारण बताकर नहीं कर सकते। इसका अर्थ यह है कि हम उसकी व्याख्या ही नहीं कर सकते। स्वतन्त्रता के निरुपाधिक प्रत्यय के संदर्भ में हमारा यही काम शेष रह जाता है कि हम इसकी रक्षा इसके विरोधियों द्वारा किये जाने वाले आक्षेपों से करें। कुछ लोग यह दावा करते हैं कि वे वस्तुओं के स्वरूप को हमसे ज्यादा गहराई से जानते हैं। ये लोग स्वतन्त्रता को असंभव मानते हैं। हमारा काम इन्हीं लोगों के

आक्षेपों से स्वतन्त्रता के निरुपाधिक प्रत्यय का बचाव करना है। ये लोग "आत्म-विरोध" (self-contradiction) का दोष दिखाकर स्वतन्त्रता को असम्भव दर्शाते हैं अतः हमारा काम उन्हें यह बताना है कि वस्तुतः आत्मविरोध का कारण वे स्वयं हैं। जब एक आभास के रूप में वे मनुष्य को प्रकृति के नियमों के अन्तर्गत मानते हैं, तो कोई गलती नहीं करते, पर जब उनसे यह अनुरोध किया जाता है कि वे मनुष्य को बुद्धिमान प्राणी के रूप में "अपने आप में वस्तु" मानें तब भी वे उसे आभास मानकर उस पर प्रकृति के नियम लागू करते हैं। यही उनकी गलती है। एक ही दृष्टिकोण से मनुष्य को समझने पर बल देना, उसे "स्वतंत्र" व "नियन्त्रित" (Determined) दोनों के रूप में देखने की सम्भावना को तिलाञ्जलि देना है। यदि स्वतन्त्रता के विरोधी यह समझने की चेष्टा करें कि आभासों की पृष्ठिभूमि में स्थित 'अपने आप में वस्तुएँ' (Things-in-themselves), आभासों के आधार हुआ करती हैं, तो प्रतीत्यमान विरोध स्वतः ही लुप्त हो जाता है। उपर्युक्त तथ्य स्वीकार करने पर भी यह स्पष्ट हो जाता है कि "फिनोमिना' पर शासन करने वाले नियम, 'न्यूमिना' पर शासन करने वाले नियमों से नितांत भिन्न हैं अतः आभासों के नियमों को 'न्यूमिना' पर लागू नहीं किया जाना चाहिए। यदि ऐसा किया जाता है, तो विरोध उत्पन्न होता है।

नैतिक रुचि की कोई व्याख्या संभव नहीं है।

कांट कहते हैं जिस प्रकार संकल्प की स्वतन्त्रता की व्याख्या करना विषयीगत रूप से असम्भव है, उसी प्रकार यह अन्वेषण करना तथा समझाना असम्भव है कि मनुष्य नैतिक नियमों में किस प्रकार की रुचि ले सकता है तथा इस रुचि का स्वरूप क्या हो सकता है। तथापि यह भी सत्य है कि मनुष्य में वस्तुतः नैतिक रुचि पाई जाती है। कांट रुचि की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि रुचि वह चीज है जिसके कारण विशुद्ध बुद्धि व्यावहारिक बनती है। रुचि के कारण ही विशुद्ध बुद्धि संकल्प को निर्धारित करने वाला एक कारण बनती है अतः केवल बौद्धिक प्राणी के सन्दर्भ में ही हम किसी चीज में ली जाने वाली "रुचि" की चर्चा करते हैं। बुद्धि रहित या अ-बौद्धिक (Non-rational) प्राणी रुचि नहीं लेते; वे केवल इन्द्रियात्मक प्रभाव अनुभव करते हैं। किसी कर्म में बुद्धि केवल तभी सहज (immediate) रुचि लेती है, जब उस कर्म का विषयीगत नियम अपनी सार्वभौमिक प्रामाणिकता के कारण संकल्प-निर्धारण के लिए पर्याप्त आधार प्रस्तुत करता हो। केवल इसी तरह की सहज रुचि को कांट विशुद्ध नैतिक रुचि मानते हैं। जब बुद्धि

किसी अभीष्ट वस्तु के द्वारा अथवा व्यक्ति की किसी विशिष्ट भावना को स्वीकार करके, उसके आधार पर संकल्प को नियन्त्रित करने में समर्थ होती है, तब वह कर्म में सहज रुचि न लेकर, केवल अप्रत्यक्ष (mediate) रुचि लेती है। इस प्रकार की रुचि को कांट विशुद्ध बौद्धिक रुचि नहीं मानते, क्योंकि ऐसी स्थिति में बुद्धि पूर्णतः अपने आप, अर्थात् इन्द्रियानुभव की सहायता के अभाव में, न तो संकल्प के लिये वस्तुयें ही खोज सकती है, और न ही वह संकल्प की पृष्ठभूमि में रहने वाली विशिष्ट भावना का अन्वेषण कर सकती है। इस प्रकार की रुचि केवल "अनुभवात्मक रुचि" ही होगी। यही बात बुद्धि की "तार्किक रुचि" पर लागू होती है। तार्किक रुचि कभी भी सहज या प्रत्यक्ष रुचि नहीं होती क्योंकि यह सदैव उन उद्देश्यों को पहिले ही मान लेती है, जिनको बुद्धि द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। तार्किक रुचि बुद्धि की अन्तर्दृष्टि तीव्र करने में सहायक होती है।

बौद्धिक प्राणी में नैतिक रुचि का जो आधार है उसे कांट "नैतिक भावना" कहते हैं। कुछ लोगों ने भूल से इस नैतिक भावना को हमारे नैतिक निर्णयों को नापने का साधन मान लिया है तथा वे अन्य लोगों को भी यही समझाते हैं। नैतिक-भावना को नैतिक निर्णयों का मापदंड मानना अनुचित है। 'नैतिक भावना' को हमारे संकल्प पर सार्वभौमिक नियम द्वारा पड़ने वाला वह विषयीगत प्रभाव समझा जाना चाहिए, जिसका वस्तुगत आधार केवल बुद्धि में रहता है। इस तरह हम देखते हैं कि रुचि को मानव-कर्म का प्रेरक समझा जा सकता है; किन्तु हमें दो प्रकार की रुचि में भेद करना चाहिए। जब हमारी रुचि किसी अनुभवात्मक वस्तु की इच्छा अथवा कामना पर आधारित रहती है, तब इस रुचि को किसी वस्तु की प्राप्ति के लिये उपयोगी कर्म में निवारक तथा अप्रत्यक्ष रुचि (Pathological and mediate interest) लेना कहते हैं। जब नैतिक नियम के विचार द्वारा रुचि उत्पन्न होती है, तब उसे नैतिक नियम के प्रत्ययानुसार किये जाने वाले कर्म में "सहज तथा व्यावहारिक रुचि" लेना कहते हैं। नैतिक कर्म में हम जो रुचि लेते हैं, उसका आधार नैतिक भावना (feeling) रहती है। यह भावना नैतिक नियम की सार्वभौमिकता के ज्ञान का परिणाम है। इसे हमारे नैतिक निर्णयों को मापने का यंत्र मानना भूल है। इसका अर्थ यह हुआ कि विशुद्ध बुद्धि नैतिक नियम के अपने विचार द्वारा नैतिक-भावना का कारण होना चाहिए। यह नैतिक-भावना नैतिक कर्म के इन्द्रियात्मक प्रेरक के रूप में समझी जा सकती है। यहाँ हम एक विशेष प्रकार की कारणता से परिचित होते हैं। यह

कारणता है बुद्धि के निरुपाधिक प्रत्यय की कारणता। इस संदर्भ में प्राक्-आनुभविक रूप से यह जानना सदैव असंभव रहता है कि कौन-सा कारण कौन-सा कार्य उत्पन्न करेगा। किसी भी कार्य का कारण खोजने के लिये हमें अनुभव के क्षेत्र में प्रविष्ट होना पड़ता है, किन्तु अनुभव केवल दो अनुभवात्मक वस्तुओं के मध्य ही कार्य-कारण का सम्बन्ध खोज सकता है। इसके विपरीत, नैतिकता के क्षेत्र में कार्य-कारण के अनुभवात्मक अथवा प्राकृतिक नियम के आधार पर चीजों को समझाना असंभव है, क्योंकि यहाँ कारण, अनुभव की कोई वस्तु न होकर केवल एक "निरुपाधिक प्रत्यय" या विचार है। यही कारण है कि हम नैतिक रुचि को नहीं समझा सकते। हम यह नहीं समझा सकते कि क्यों एक सार्वभौमिक नियम के रूप में हमें अपने विषयीगत नियम में अथवा नैतिकता में रुचि लेना चाहिए। एच० जे० पेटन की दृष्टि में कांट का यह सिद्धान्त आत्मसंगत प्रतीत नहीं होता तथा "व्यावहारिक बुद्धि की मीमांसा" नामक ग्रन्थ में कांट इससे भिन्न दृष्टिकोण अपनाते हैं।[1] पेटन की आलोचना यहाँ इसलिये स्वीकार नहीं की जा सकती क्योंकि कांट ने यहाँ पर जो कुछ कहा है वह संदर्भ के अनुकूल कहा है वा उसमें असंगति नहीं है।

कांट के विचार में सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह स्मरण रखना है कि नैतिक नियम इसलिये प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि वह हममें रुचि उत्पन्न करता है। यदि हम ऐसा मानेंगे तो इसका अर्थ पारतन्त्र्य स्वीकार करना तथा यह स्वीकार करना होगा कि व्यावहारिक बुद्धि इन्द्रियानुभूति पर आश्रित है और यदि हम व्यावहारिक बुद्धि को इन्द्रियानुभूति पर आश्रित मान लेते हैं, तो वह कभी भी हमें नैतिक नियम प्रदान नहीं कर सकती। अतः हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि नैतिक नियम में हम इसलिये रुचि लेते हैं क्योंकि वह प्रामाणिक है।

कांट के मतानुसार नैतिक नियम इसलिये प्रामाणिक है क्योंकि यह हमारे अपने उस संकल्प से उद्भूत है, जो संकल्प बुद्धियुक्त है। इस तरह, इसकी प्रामाणिकता का कारण, इसका हमारी विशुद्ध आत्मा (self) अथवा विशुद्ध बुद्धि से उद्भूत होना है।

कांट कहते हैं कि जो चीज केवल आभास से सम्बन्धित है उसे बुद्धि

1. H. J. Paton, The Moral Law, p. 47.

अनिवार्यतः "अपने आप में वस्तु" से गौण मानती है । कांट का यह तर्क नैतिकता का "तत्वमींमासात्मक" तर्क प्रतीत होता है । यह एक ऐसा तर्क है, जो बौद्धिक जगत् की सत्ता को श्रेष्ठ मानता है परिणामतः यह बौद्धिक संकल्प की श्रेष्ठता की मान्यता पर आधारित है ।

तर्क का सामान्य पुनरावलोकन

अब हमें पुनः अपने मुख्य प्रश्न पर लौट आना चाहिए । प्रश्न है कि निरपेक्ष आदेश कैसे संभव है ? जहाँ तक हम यह दिखा चुके हैं कि निरपेक्ष आदेश केवल स्वतन्त्रता की पूर्वमान्यता के आधार पर ही संभव है तथा यह पूर्वमान्यता समस्त बौद्धिक प्राणियों के लिये अनिवार्य है, उस सीमा तक हम इस प्रश्न का उत्तर दे चुके हैं । स्वतन्त्रता की पूर्वमान्यता से स्वातन्त्र्य का सिद्धांत निर्गमित होता है । नैतिक नियम या निरपेक्ष आदेश की प्रामाणिकता के दृढ़ निश्चय के लिये तथा बुद्धि के व्यावहारिक प्रयोग के लिये इतना जानना ही पर्याप्त है, किन्तु मानव-बुद्धि कभी भी यह नहीं जान सकती कि स्वयं यह पूर्वमान्यता कैसे संभव है ? इस पूर्वमान्यता पर कि "बुद्धिमान प्राणी का संकल्प स्वतन्त्र है", संकल्प की आकारिक उपाधि (formal condition) अथवा स्वातन्त्र्य अनिवार्य रूप से निर्भर है । हम यह देख चुके हैं कि संकल्प की स्वतन्त्रता को स्वीकार करने तथा इन्द्रियात्मक जगत के आभासों में प्राकृतिक अनिवार्यता को स्वीकार करने में कोई विरोध नहीं है । संकल्पनात्मक दर्शन भी यही बताता है । संकल्प की स्वतन्त्रता को स्वीकार कर लेना ही पर्याप्त नहीं है, वरन् एक बौद्धिक कर्ता के लिये, जो यह जानता है कि उसके पास संकल्प व बुद्धि है, यह भी अनिवार्य है कि वह अपने समस्त कर्मों की शर्त इस पूर्वमान्यता को बनाये । कहने का तात्पर्य है कि व्यवहार व जीवन में भी वह इस पूर्वमान्यता को साकार करे तथापि हम यह नहीं समझा सकते कि स्वतन्त्रता कैसे संभव है ? हम यह भी नहीं समझा सकते कि बिना किसी अनुभवात्मक प्रेरक के विशुद्ध बुद्धि अपने आप व्यावहारिक बुद्धि कैसे बनती है ? या, कैसे हम सार्वभौमिक नियमों के रूप में अपने विषयीगत सिद्धान्तों की प्रामाणिकता में नैतिक रुचि ले सकते हैं ? कांट के मतानुसार मानव-बुद्धि इन सभी प्रश्नों का उत्तर देने में पूर्णतः असमर्थ है । यदि हम इस सीमा को अस्वीकार करते हुये उपर्युक्त प्रश्नों की व्याख्या करने या उत्तर देने की चेष्टा करते हैं, तो हमारा सारा श्रम व सारे प्रयास व्यर्थ होते हैं । कांट हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित करते हैं कि अभीष्ट व्याख्या के लिये आधार के रूप में बौद्धिक जगत् का उपयोग करना असंभव

नहीं रोक सकते। नैतिकता के आधार के रूप में अनुभवात्मक अथवा इन्द्रियात्मक प्रेरकों को खोजना स्वयं नैतिकता के लिये घातक है। अतः नैतिकता की विशुद्धता की रक्षा के लिए सीमा का निर्धारण करना अत्यधिक उपयोगी है। दूसरी ओर, यदि हम यह न जानें कि हमें बौद्धिक जगत् का 'ज्ञान' कभी भी नहीं हो सकता, तो हमारी बुद्धि व्यर्थ में ही एक ऐसे दिक् में फड़फड़ाती रहेगी जो उसके लिये रिक्त है अर्थात् वह बौद्धिक जगत् के रूप में ज्ञात अतीन्द्रिय प्रत्ययों के दिक् में ही विचरण करती रहेगी और इस तरह उसे दिमाग के प्रेतों के मध्य खो जाने से बचाया नहीं जा सकता। इस दृष्टि से भी सीमा का निर्धारण करना महत्वपूर्ण है। सारांश में, नैतिकता के 'अनुभवात्मक' तथा 'रहस्यात्मक' सिद्धान्तों का खण्डन तभी किया जा सकता है जब हम नैतिक खोज की अन्तिम सीमा का निर्धारण करें।

यह ठीक है कि इन्द्रियात्मक जगत् की सीमा हमारे "ज्ञान" की सीमा है, किन्तु बौद्धिक विश्वास के रूप में विशुद्ध बौद्धिक जगत् का विचार (निरुपाधिक प्रत्यय) नैतिकता के लिये अत्यधिक लाभदायक है। विशुद्ध बौद्धिक जगत् समस्त बुद्धिमानों (intelligences) का एक पूर्ण है, जिस पूर्ण से हम स्वयं बौद्धिक प्राणियों के रूप में सम्बद्ध हैं। यद्यपि एक अन्य दृष्टिकोण से हम इन्द्रियात्मक जगत् के भी सदस्य हैं। बौद्धिक जगत् के निरुपाधिक प्रत्यय का महत्व इस बात में है कि वह साध्यों के सार्वभौमिक साम्राज्य के गरिमामय आदर्श द्वारा हम में नैतिक नियम के प्रति रुचि जागृत करता है।

उपसंहार

उपसंहार में कांट अपने पारिभाषिक अर्थ में 'बुद्धि' (Reason) की प्रकृति या स्वरूप की ओर कुछ संकेत करते हैं। वे कहते हैं कि बुद्धि केवल 'संदिग्ध' से संतुष्ट नहीं हो सकती। बुद्धि सदैव "अनिवार्य" के ज्ञान के लिये प्रयत्न करती रहती है। प्रकृति के सम्बन्ध में बुद्धि का संकल्पनात्मक प्रयोग विश्व के किसी सर्वोच्च कारण की चरम अनिवार्यता की ओर ले जाता है। बुद्धि के संकल्पनात्मक उपयोग से कांट का तात्पर्य संकल्पनात्मक अथवा सैद्धान्तिक बुद्धि से है। इसके अतिरिक्त, बुद्धि का व्यावहारिक उपयोग भी है अर्थात् व्यावहारिक बुद्धि भी है। इस तरह कांट बुद्धि के दो प्रकार मानते हैं। वे हैं :

(१) विशुद्ध सैद्धांतिक बुद्धि।

(२) विशुद्ध व्यावहारिक बुद्धि ।

विशुद्ध व्यावहारिक बुद्धि भी स्वतन्त्रता के क्षेत्र में "चरम अनिवार्यता" (Absolute necessity) की खोज के प्रयास करती है। किन्तु भेद यह है कि विशुद्ध व्यावहारिक बुद्धि बौद्धिक प्राणियों के कर्म-सिद्धांत की चरम अनिवार्यता की ओर ले जाती है। कांट कहते हैं कि बुद्धि के प्रत्येक उपयोग, सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक, के लिये यह एक सारभूत सिद्धांत है कि वे अपने ज्ञान को उस बिन्दु तक पहुँचायें जहां हमें उस ज्ञान की अनिवार्यता का बोध हो । अनिवार्यता को खोज आवश्यक है। पर दूसरी ओर यह भी स्मरणीय है कि बुद्धि की एक मुख्य सीमा यह है कि वह किसी भी क्षेत्र में चरम अनिवार्यता के ज्ञान, के बिना किसी उपाधि या शर्त को प्राप्त नहीं कर सकती। बुद्धि "अनिवार्य" को केवल उसकी शर्त के आधार पर ही समझा सकती है और जब तक यह शर्त स्वयं ही अनिवार्य न हो, तब तक बुद्धि असंतुष्ट ही रहेगी। अतः निश्चित है कि बुद्धि को शर्त की भी शर्त खोजना होगी। इस तरह वह "अनवस्था दोष" में फंस जायेगी। अनवस्था से बचने का एक ही मार्ग है। इसी मार्ग को अपनाने के लिये बुद्धि बाध्य है। यह मार्ग है—शर्तों या उपाधियों की प्रणाली (Totality) का विचार स्वीकार करना। प्रणाली का विचार इसलिये शरण-स्थल है, क्योंकि प्रणाली होने के कारण इसकी अन्य कोई शर्तें नहीं हो सकतीं। अतः यदि कुछ अनिवार्य है, तो यही प्रणाली निरुपाधिक रूप से अनिवार्य होना चाहिए। फिर भी कांट यह मानते हैं कि "निरुपाधिक रूप से अनिवार्य" का उपर्युक्त विचार हमें कोई ज्ञान नहीं दे सकता। यह इसलिये ज्ञान नहीं दे सकता क्योंकि इसके अनुरूप कोई इन्द्रियात्मक वस्तु भौतिक जगत् में नहीं पाई जाती।

हम देख चुके हैं कि इसी तरह विशुद्ध व्यावहारिक बुद्धि कर्म के एक ऐसे नियम को मानती है, जो निरुपाधिक रूप से अनिवार्य है अतः अपूर्ण बौद्धिक कर्ताओं के लिये निरपेक्ष आदेश है। यदि हम किसी अनिवार्यता को केवल उसकी शर्त की खोज करके अथवा शर्त के आधार पर ही समझ सकते हैं तो एक "निरुपाधिक अनिवार्यता" अवश्य ही अबोधगम्य (incomprehensible) होना चाहिए। यह कांट का तर्क है। उपर्युक्त चर्चा का व्यावहारिक निष्कर्ष यही है कि यह पूछना नितांत असंगत है कि हमें निरपेक्ष आदेश अथवा कर्तव्य का पालन क्यों करना चाहिए। वस्तुतः यह प्रश्न ही अपने आप में मूर्खतापूर्ण है। यदि यह प्रश्न पूछ ही लिया जाये, तो यह उत्तर देना और भी असंगत होगा कि हमें कर्तव्यों का पालन इसलिये करना

चाहिए, क्योंकि हमें किसी अन्य चीज की इच्छा है। अभीष्ट वस्तु अथवा किसी रुचि अथवा इहलोक या परलोक के संतोष व तृप्ति को नैतिक आदेश के पालन का कारण बताना गलत है, यदि ऐसा उत्तर दिया जाये तो इसका यह अर्थ होगा कि कोई भी आदेश निरपेक्ष नहीं है तथा कर्तव्य केवल एक भ्रम है। पर हम सब जानते हैं कि कर्तव्य भ्रम नहीं है अतः हमें अपनी बुद्धि की अन्तिम सीमा स्वीकार करते हुए भी, नैतिक कर्म या कर्तव्यों से पलायन नहीं करना चाहिए।

——:o:——

परिभाषिक शब्दावली (हिन्दी-अंग्रेजी)

अधिनियम —Canon
अभिप्राय —Intention
अ-बौद्धिक —Non-Rational
अन्तर्वस्तु —Content
अन्तर्वेशन —Interpenetration
अनुभूति —Feeling
अनुभवातीत, इन्द्रियातीत —Transcendental
अपवाद —Exception
अमूर्त —Abstract
अन्तर्दृष्टि —Insight
अपने आप में वस्तुएं —Things-in-themselves
अपने आप में साध्य —End in itself
आत्म-निर्धारण —Self-determinatior
अपेक्षा —Requirement
अज्ञेय —Unknowable
अज्ञात —Unknown
असफलता —Fruitlessness
असफलता —Failure
अपरिवर्तनीय —Immutable
असंदिग्ध —Apodeictic
आदेश —Imperative
आज्ञा —Command
आत्म-विरोध —Self-contradiction
आदर्श —Ideal
आदर्श —Norm
आत्मा —Self
आस्था —Faith
आभास —Appearance
आधार —Basis
आत्माश्रय दोष —Petitio Principil
आधारभूत —Fundamental

आधार	—Grounds
औचित्य	—Rightness
इच्छा	—Inclination
इन्द्रियाश्रित बुद्धि	—Understanding
इन्द्रियानुभव	—Experience (Sense-experience)
इन्द्रियानुभूति	—Sense-intuition
इन्द्रियानुभवात्मक	—A-posteriori
इच्छा-शक्ति	—Willing as such
इच्छा	—Desire
इन्द्रियानुभवात्मक	—Empirical
उचित	—Right
उत्तरदायी	—Responsible
उपयोगी	—Pragmatic
उपाधि	—Condition
कर्म	—Action
काम	—Work
कर्म-नियम	—Rule
कर्म-सिद्धांत	—Law
कर्तव्यता	—Obligation
कसोटी	—Criterion, Criteria
कथन	—Assertion
कामना	—Desire
गमन	—Passage
गरिमा	—Dignity
गौण	—Subordinate
गांभीर्य	—Seriousness
घटना	—Event
चयन	—Choice
चरम	—Ultimate
चित्तवृत्ति	—Impulsion
चातुर्य	—Skill
जन्मजात प्रवृत्ति	—Disposition
जन्मजात योग्यतायें	—Aptitudes
तर्कवाक्य	—Proposition
तर्कदोष	—Fallacy
तर्कशास्त्र	—Logic
तर्क	—Argument
तत्वमीमांसा	—Metaphysics

तार्किक निगमन	—Logical Deduction
तात्पर्य	—Meaning
धैर्य	—Patience
धारणा	—Opinion
धर्म	—Religion
निर्णय	—Judgement
निर्णयात्मिका शक्ति	—Power of Judgement
नैतिकता	—Morality
निरुपाधिक	—Unconditioned
निरपेक्ष	—Categorical
नियम	—Law
नैतिक आदर्श	—Morals
निगमन	—Deduction
निर्गमित	—Derived
निरुपण	—Demonstration
निर्धारण	—Determination
नियत	—Determined
नियति	—Fate
निमित्त कारण	—Efficient cause
नैतिक नियम	—Moral Law
नियतिवाद	Fatalism
नीतिशास्त्र	—Ethics
न्यूमिना	—Noumena, Things in themselves
परिभाषा	—Definition
पाप	—Sin
परम	—Absolule
परिणाम	—Result
परमोद्देश्य	—Ultimate end
पूर्वमान्यता	—Presupposition
प्राप्ति	—Attainment
प्राक्-आनुभविक	—A priori
प्रेरक	—Motive
प्रयोजन	—Purpose
प्रवृत्ति	—Inclination
प्राणी	—Being
प्रत्यय	—Concept
प्रत्ययीकरण	—Conceptulization

पारतन्त्र्य	—Heteronomy
फलदायक	—Fruitful
बुद्धि	—Reason
बुद्धि-विकल्प	—Categories of Understanding
बौद्धिक	—Rational
बौद्धिक प्राणी	—Rational being
बाध्यता	—Obligation
भौतिक	—Material
भौतिकशास्त्र	—Physics
भ्रमित	—Confused
मत	—Doctrine
महत्व	—Importance
मूल्य	—Value
मूर्त	—Concrete
मूर्तप्रवृति	—Instinct
मीमांसा	—Critique
मानव	—Human
रुचि	—Interest
वस्तुगत	—Objective
विषयीगत	—Subjective
विषयीगत कर्म-सिद्धांत	—Maxim
विशुद्ध बुद्धि	—Pure Reason
विकल्प	—Alternative
विचार	—Thought
वास्तविक	—Real, actual
व्यावहारिक नियम	—Practical Law
वस्तुधर्म	—Property
विश्लेषणात्मक	—Analytical
शुभ संकल्प	—Good will
ज्ञानात्मक	—Epistemological
सद्‌गुण	—Virtue
सत्य	—Truth
संभव	—Possible
संभाव्य	—Probable
संभावना	—Possibility
सर्वोच्च शुभ	—Highest good
संकल्पना	—Speculation
संकल्प-शक्ति	—Volition

परिभाषिक शब्दावली (हिन्दी-अंग्रेजी)

संकल्प	—Will
सैद्धान्तिक	—Theoretical
साधन	—Means
सोपाधिक	—Conditioned
सापेक्ष	—Hypothetical
सापेक्ष	—Relative
सोद्देश्य	—Teleological
स्वतंत्रता	—Freedom
स्वातंत्र्य	—Autonomy
संकल्प-स्वातंत्र्य	—Autonomy of will
स्वयंसिद्ध	—Apodeictic
सूत्र	—Formula
सूत्रीकरण	—Formulisation
स्वार्थ	—Interest
सिद्धांत	—Principle
संश्लेषणात्मक	—Synthetical
सत्तात्मक	—Existential
स्थिति	—Position

—:o:—